मुद्रा, विनिमय तथा अधिकोषण

प्रथम भाग

एस० आर० रैलन बी० कॉम० (ऑनर्स) (बरमिंघम)
उपाचार्य, विक्रमजीतसिंह सनातन धर्म कॉलिज, कानपुर
एवं
तान्त्रिक सलाहकार, यू० पी० चेम्बर ऑफ कॉमर्स

तथा

पी० एल० गोलवलकर एम० ए०, बी० कॉम०
वाणिज्य विभाग, विक्टोरिया कॉलिज, ग्वालियर

रामप्रसाद एण्ड सन्स
पुस्तक प्रकाशक — आगरा

प्रथम संस्करण : दिसम्बर १९५०

आवरण-चित्र—श्री मथुराप्रसाद्

मुद्रक—अमृत इलैक्ट्रिक प्रेस, बेलनगंज, आगरा

प्रकाशक—रामप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा

मूल्य साढ़े तीन रुपये

दो शब्द

भारतीय स्वातन्त्र्योदय के साथ इस बात का महत्त्व प्रस्थापित होने लगा कि विश्वविद्यालयीन शिक्षा अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी अथवा प्रान्तीय भाषाओं के माध्यम से दी जानी चाहिए क्योंकि शनैः शनैः यह अनुभव होने लगा था कि यदि शिक्षा का माध्यम हिन्दी अथवा प्रान्तीय भाषाएँ हो तो विद्यार्थीगण विषय को भली भाँति समझ सकते हैं तथा उनकी ग्रहण-शक्ति भी बढ़ती है। यहाँ लॉर्ड विलियम बैंटिक के सुधारों का उल्लेख करना अनिवार्य है क्योंकि उसने अपने सुधारों द्वारा प्रान्तीय भाषाओं को कार्यालयीन भाषा (Official Language) का रूप दिया। उस समय शिक्षा का माध्यम प्रान्तीय भाषाओं को बनाना सम्भव था परन्तु भारतीय वैधानिकों एवं शिक्षा-विदों ने इस विषय में कोई विचार ही नहीं किया। माध्यमिक विद्यालयों में भी उस समय अंग्रेजी ही शिक्षा का माध्यम थी। प्रान्तीय भाषा को माध्यम बनाने का श्रेय डेक्कन ऐज्यूकेशनल सोसाइटी को है, जिसने १९२३-२४ में अपने सतारा तथा पूना के विद्यालयों में कुछ विषयों की शिक्षा मराठी में देना प्रारम्भ किया। इसी प्रकार विश्वविद्यालयीन शिक्षा में हिन्दी तथा मराठी को माध्यम बनाने का श्रेय गोविन्दराम सेक्सरिया वाणिज्य महाविद्यालय, वर्धा को प्राप्त है।

नागपुर तथा बनारस के विश्वविद्यालयों ने सर्वप्रथम हिन्दी को शिक्षा का माध्यम अनिवार्य रूप से घोषित किया। उनका अनुकरण कुछ अंशों में अन्य विश्वविद्यालयों में भी हो रहा है। आगरा विश्व-विद्यालय, अजमेर बोर्ड तथा यू० पी० बोर्ड ने भी विद्यार्थियों के लिए हिन्दी या अंग्रेजी में उत्तर लिखना ऐच्छिक बना दिया है। किन्तु शिक्षा का माध्यम हिन्दी होने पर हमें पाठ्य-पुस्तकों का अभाव प्रतीत होने लगता है जिसकी पूर्ति के लिए हिन्दी में विभिन्न विषयों पर ग्रन्थ निर्माण होने की अतीव व शीघ्र आवश्यकता है। इस दिशा में नागपुर, पटना तथा बनारस के विश्वविद्यालय प्रयत्न कर रहे हैं।

हिन्दी में इस विषय पर पुस्तक लिखकर इसके अभाव की पूर्ति करने का विचार बहुत दिनों से था और सरस्वती देवी की कृपा से यह कार्य आज पूर्ण हो रहा है।

यह पुस्तक विशेषतः इण्टरमीजिएट के विद्यार्थियों के पाठ्यक्रम को ध्यान में रखकर लिखी गई है तथा बी० ए० व बी० कॉम० के

पाठ्यक्रम का भी समावेश इसमें किया गया है। आशा है उन्हें भी यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी तथा विद्यार्थी समुदाय इसका सहृदयता से स्वागत करेगा।

पुस्तक की भाषा को, जहाँ तक सम्भव हो सका, सरल एवं सुबोध बनाने का प्रयत्न किया गया है। यथासम्भव पारिभाषिक शब्द डॉ० रघुवीर के शब्दकोशों (प्रकाशक—गोसेवा अर्थ-साहित्य प्रकाशन, वर्धा) से लिये गये हैं तथा सुगमता लाने के लिए उनके अंग्रेजी प्रतिशब्द साथ ही साथ कोष्ठकों में दिये हैं।

इस विषय के अध्ययन एवं अध्यापन कार्य में जो कठिनाइयाँ अनुभव होती हैं उन्हें भी दूर करने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु इसमें हमें कहाँ तक सफलता मिली है, यह तो पाठक, अध्यापक एवं विद्यार्थीगण ही बता सकेंगे।

इस पुस्तक को लिखते समय हमें इस विषय की अनेक अंग्रेजी पुस्तकों की सहायता लेनी पड़ी है जिनका यथास्थान नाम-निर्देशन किया गया है। उन सब पुस्तकों के लेखकों एवं प्रकाशकों के हम ऋणी हैं और आभारी भी।

जिन महानुभावों ने हमें इस कार्य में समय-समय पर सहायता प्रदान की है तथा प्रोत्साहित किया है उनके हम विशेष रूप से ऋणी हैं। इनमें विक्टोरिया कॉलिज, ग्वालियर के वाणिज्य विभाग के प्रमुख श्री सी० एम० पालविया तथा प्रोफेसर वाघ के नाम विशेषतः उल्लखेनीय हैं। इनके अतिरिक्त सौ० आशा गोलवलकर ने भी हमे इस कार्य को पूरा करने में जो सहायता दी है उसके लिए हम उनके ऋणी हैं। पुस्तक के प्रकाशन कार्य में जिस तत्परता से, प्रेमपूर्ण भावना से, एवं आत्मीयता से सर्वश्री रामप्रसाद एण्ड सन्स के संचालक श्री हरिहरनाथ अग्रवाल ने कार्य किया है उसके लिए वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

इस पुस्तक की रचना-पद्धति, पारिभाषिक शब्द आदि में संशोधन एवं सुधार के विषय में जो भी सुझाव दिये जायँगे उनका हम सधन्यवाद स्वागत करेंगे।

६ दिसम्बर १९५०

—एस० आर० रैलन
—पी० एल० गोलवलकर

अनुक्रमणिका

अध्याय	विषय	पृष्ठ

अध्याय	विषय	पृष्ठ

अध्याय १

विषय प्रवेश

विनिमय (Exchange) की आवश्यकता

आधुनिक जगत में प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति विनिमय के द्वारा करता है क्योंकि आजकल हर व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक वस्तुओं का निर्माण नहीं कर सकता। अतः हम देखते हैं कि वस्तुएँ उत्पादक से उपभोक्ता तक पहुँचने के लिए कई व्यक्तियों के माध्यम से पहुँचती हैं। अतः वस्तुओं के निर्माण के लिए तथा उनको उपभोक्ताओं के पास पहुँचाने के लिए विनिमय ही एकमात्र मार्ग रह जाता है। इसी कारण आजकल विनिमय की अतीव आवश्यकता प्रतीत होती है। इतना ही नहीं अपितु विनिमय के अभाव में न तो उत्पादन इतना सुगम हो सकता है और न प्रत्येक व्यक्ति इतनी सुगमता से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति ही कर सकता है। विनिमय के अस्तित्व के कारण ही श्रम-विभाजन एवं बड़े परिमाण का (Large Scale) उत्पादन भी हो सकता है। अतः आधुनिक आर्थिक व्यवस्था में विनिमय का प्रमुख स्थान है तथा यह विनिमय वर्तमान समय में मुद्रा के माध्यम के द्वारा होता है।

विनिमय वस्तु अथवा सम्पत्ति की अदला-बदली की उस क्रिया को कहते हैं जिसमें स्वेच्छा से सम्पत्ति का हस्तान्तरण एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य के हाथ होता है। यह विनिमय दो प्रकार से होता है :

१. प्रत्यक्ष विनिमय अथवा वस्तु-विनिमय (Barter System) : इसमें एक मनुष्य अपने पास की अतिरिक्त वस्तु के साथ दूसरे व्यक्ति से अपनी आवश्यक वस्तु बदलता है। इसकी व्याख्या है : "तुलनात्मक अतिरिक्त वस्तु के साथ तुलनात्मक आवश्यक वस्तु का आदान-प्रदान।"[1] उदाहरणार्थ, अपने पास का अतिरिक्त कपड़ा देकर अपने लिए आवश्यक गेहूँ लेना।

२. अप्रत्यक्ष विनिमय अथवा मुद्रासाध्य विनिमय (Indirect Exchange) : इसमें मुद्रा के माध्यम के द्वारा पहले एक वस्तु बेचकर मुद्रा

---

[1] *W. S. Jevons*

ली जाती है फिर उसी मुद्रा से अपने लिए आवश्यक वस्तुएँ खरीदी जा सकती हैं। चूँकि इसमें एक वस्तु दूसरी वस्तु के साथ बिना किसी माध्यम के नहीं बदली जा सकती अतः इसे अप्रत्यक्ष विनिमय कहते हैं तथा जिस वस्तु के माध्यम से हम अपनी अतिरिक्त वस्तुओं का विक्रय एवं आवश्यक वस्तुओं का क्रय करते हैं उसे विनिमय-माध्यम अथवा मुद्रा कहते हैं।

समाज की प्रारम्भिक अर्थ-व्यवस्था में मनुष्य की आवश्यकताएँ कम थीं एवं श्रम-विभाजन का अस्तित्त्व भी नहीं था। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकता की वस्तुओं का निर्माण स्वयं करता था। उस समय विनिमय की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। किन्तु क्रमशः समाज की आर्थिक उन्नति के साथ श्रम-विभाजन का तत्व अल्प परिमाण में प्रारम्भ हुआ। उस समय से विनिमय की आवश्यकता प्रतीत हुई। वस्तु-विनिमय से उनका कार्य सुगमता से हो सकता था, क्योंकि ऐसा वस्तु-विनिमय तभी साध्य हो सकता है जब उसकी शर्तें पूरी हों। वस्तु-विनिमय साध्य होने के लिए आवश्यकताओं का दुहेरा संगम होना आवश्यक है अर्थात् दो ऐसे व्यक्ति हों जिनके पास ऐसी वस्तुएँ हैं जो कि एक-दूसरे को देना चाहते हैं तथा वे एक-दूसरे की वस्तुओं को लेना चाहते हैं। अर्थात् दोनों व्यक्तियों के पास अपनी वस्तुओं की अधिकता है तथा एक को दूसरे की वस्तु की आवश्यकता भी है। जब तक ऐसे दो व्यक्ति नहीं मिलें तब तक विनिमय की कोई सम्भावना नहीं हो सकती। फिर भी प्रारम्भिक अर्थ-व्यवस्था में वस्तु-विनिमय के द्वारा ही मानवी आवश्यकताओं की पूर्ति होती रही; किन्तु क्रमशः सामाजिक एवं आर्थिक विकास के साथ मनुष्य की आवश्यकताएँ भी बढ़ीं, श्रम-विभाजन के तत्त्व में भी परिवर्तन हुआ, एवं उत्पादन की वृद्धि हुई जिसके कारण आदान-प्रदान के लिए वस्तुओं की संख्या में वृद्धि हुई और बाजार भी विस्तृत हुए। ऐसी परिस्थिति में वस्तु-विनिमय में अनेक कठिनाइयाँ प्रतीत होने लगीं जिसके कारण वस्तु-विनिमय के लिए किसी अन्य माध्यम की आवश्यकता भी प्रतीत हुई।

प्रत्यक्ष विनिमय अथवा वस्तु-विनिमय की कठिनाइयाँ :-

१. आवश्यकताओं के दुहेरे संगम का अभाव (Lack of Double Coincidence of Wants) : यह हम ऊपर बता चुके हैं कि वस्तु-विनिमय साध्य होने के लिए दो व्यक्तियों की आवश्यकताओं एवं वस्तुओं की अधिकता का दुहेरा संगम होना चाहिए अन्यथा वस्तु-विनिमय नहीं हो सकता। परन्तु कोई भी दो व्यक्ति अथवा कोई भी दो वस्तुओं के होने से काम नहीं चलेगा। ये दोनों व्यक्ति तथा दोनों वस्तुएँ ऐसी होनी चाहिएँ कि जो वस्तु

एक व्यक्ति के पास अधिक है उसे दूसरा व्यक्ति लेना चाहता है। पहले व्यक्ति के पास जो वस्तु अधिक है वह दूसरे व्यक्ति की आवश्यकता है एवं दूसरे व्यक्ति की अधिक वस्तु की पहले व्यक्ति को आवश्यकता है। ऐसी स्थिति को आवश्यकताओं का दुहेरा संगम कहते हैं। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति के पास कपड़ा अधिकता में है तथा वह गेहूँ चाहता है; अतः उसे ऐसे व्यक्ति की खोज करनी पड़ेगी जो कपड़ा चाहता है तथा जिसके पास गेहूँ है और उसके बदले में कपड़ा लेने को तैयार है। ऐसा दूसरा व्यक्ति मिलने पर ही वस्तु-विनिमय हो सकेगा। अतः ऐसे दो व्यक्ति, जिनकी आवश्यकताऐ एवं अधिकताएँ परस्पर पूरक हैं, एक समय पर एक ही जगह मिलना चाहिए, जो कि बहुधा अप्राप्य है। यह एक पहली अड़चन वस्तु-विनिमय में उपस्थित होती है।

२. सर्वमान्य परस्पर मूल्यमापक का अभाव (Lack of a Common Measure of Value): मान लीजिये कि ऐसे दो व्यक्ति मिल गए जो एक-दूसरे से अपनी वस्तुएँ बदलना चाहते हैं। फिर उन दोनों को उनकी वस्तुओं का परस्पर मूल्य ग्राह्य होना चाहिए—जैसे एक गज कपड़े के बदले में एक सेर गेहूँ एक व्यक्ति लेना चाहता है, परन्तु दूसरा व्यक्ति एक गज कपड़े के बदले केवल आधा सेर गेहूँ देना चाहता है, तो फिर उनमें वस्तुओं का आदान-प्रदान नहीं हो सकता, क्योंकि वस्तु-विनियम में भिन्न-भिन्न वस्तुओं का सर्वमान्य परस्पर मूल्य निश्चित करने का कोई भी साधन नहीं होता। अपितु, प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकतानुसार अपनी-अपनी वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करता है। अतः भिन्न-भिन्न वस्तुओं के सर्वमान्य परस्पर मूल्यमापक का अभाव, यह दूसरी अड़चन वस्तु-विनिमय पद्धति में उपस्थित होती है।

३. अविभाज्यता (Lack of Divisibility): मान लीजिये कि एक व्यक्ति के पास एक गाय या घोड़ा है और वह इसके बदले में गेहूँ, कपड़ा तथा दूध लेना चाहता है। अतः ऐसा मनुष्य मिलना कठिन है जिसके पास ये तीनों वस्तुएँ हों और न एक वस्तु के बदले में गाय या घोड़ा ही दिया जा सकता है। मान लीजिये कि गेहूँ वाला, कपड़े वाला तथा दूध वाला, गाय या घोड़े के बदले में अपनी वस्तु देने के लिए तैयार है और इनका मूल्य भी निश्चित हो गया है। फिर भी गाय या घोड़े का विभाजन तो तीन टुकड़ों में नहीं किया जा सकता क्योंकि ऐसा करने से गाय या घोड़े की उपयोगिता तथा मूल्य में कमी आ जायगी। अतः ऐसी अवस्था में वस्तु-विनिमय नहीं हो सकता। इस प्रकार इस पद्धति की तीसरी कठिनाई है— वस्तु के मूल्य अथवा उपयोगिता में कमी आये बिना विभाजन की असम्भवता।

इन तीन कठिनाइयों के कारण ही विनिमय क्षेत्र संकुचित रहता है तथा

आर्थिक उन्नति में भी बाधा आती है जिसको टालने के लिए मनुष्य को किसी न किसी सर्वमान्य माध्यम को, जिसे हम मुद्रा कहते हैं, स्वीकार करना पड़ा जिससे ये कठिनाइयाँ दूर होकर वर्तमान आर्थिक विकास की स्थिति तक हम पहुँच सके हैं। इस माध्यम के आविष्कार से, पहले तो व्यक्ति अपनी अधिक वस्तुओं को बेचकर माध्यम ले लेता है और फिर उस माध्यम के बदले में अपनी आवश्यकता की वस्तुओं का क्रय करके उसकी पूर्ति करता है। इससे विनिमय में भी गमता होती है।

प्रश्न

१. वस्तु-विनिमय एवं मुद्रासाध्य विनिमय क्या है? वस्तु-विनिमय की कठिनाइयाँ उदाहरण सहित समझाइये।

२. मुद्रासाध्य विनिमय का अवलम्बन क्यों हुआ, उदाहरणों सहित बताइये।

३. अर्थ-मुद्रा युग के कारण समाज को क्या-क्या लाभ हुए?

अध्याय २

मुद्रा का उद्‌गम तथा कार्य

मुद्रा का उद्‌गम तथा इतिहास

वस्तु-विनिमय की कठिनाइयों के कारण तथा बाजारों के विस्तार के साथ किसी न किसी माध्यम के द्वारा विनिमय को सुगम बनाया जाय इस बात की जब आवश्यकता हुई तभी आर्थिक परिस्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न समाजों में भिन्न-भिन्न वस्तुओं को माध्यम के रूप में अङ्गीकार किया जाने लगा। इसी माध्यम के द्वारा क्रय-विक्रय होता था तथा इसी को मुद्रा कहते हैं। मुद्रा माध्यम के रूप में कब से प्रयोग में आई यह बताना तो असम्भव है किन्तु यह निश्चित है कि हजारों वर्ष पूर्व मुद्रा का चलन था जो वैदिक कालीन 'निष्क', 'शतमान', 'सुवर्ण', 'पाद' आदि मुद्रा के नामों से स्पष्ट है। प्राचीन काल में प्रारम्भ में किसी प्रकार का अनाज, पशु, चमड़ा, कौड़ियाँ आदि वस्तुएँ भी मुद्रा के रूप में उपयोग में आती थीं इसकी साक्षी इतिहास देता है, क्योंकि भारतीय इतिहास में 'पशुधन' का बार-बार उल्लेख आता है। ग्रीक इतिहास में भी 'पशु' का मुद्रा के रूप में उपयोग होता था यह 'Pecunia' (धन) शब्द से स्पष्ट है क्योंकि इस शब्द की उत्पत्ति 'Pecus' शब्द से हुई है जिसका अर्थ है 'पशु'। इससे यह स्पष्ट है कि पशु आदि ही प्राचीन काल में विनिमय-माध्यम थे। किन्तु इन सब प्रकार के माध्यमों में समाज की आर्थिक उन्नति के साथ-साथ कुछ ऐसी कठिनाइयाँ सामने आईं जिनके कारण ही आज माध्यम के रूप में अथवा मूल्यमापक के रूप में सोना या चाँदी का उपयोग होना प्रारम्भ हुआ। यह क्यों हुआ, इसका उल्लेख हम आगे करेंगे।

मुद्रा की परिभाषा

मुद्रा का अर्थ है 'चिन्ह', अर्थात् किसी भी वस्तु पर यदि कोई ऐसा चिन्ह बना दिया जाय जो सर्वमान्य हो, तो हम उसे 'मुद्रा' कहेंगे। अर्थात् ऐसी मुद्रा को प्रत्येक व्यक्ति विनिमय के लेन-देन में स्वीकार करेगा, चाहे वह मुद्रा किसी भी वस्तु पर क्यों न हो। भिन्न-भिन्न अर्थशास्त्रियों ने इस की परिभाषा भिन्न-भिन्न

प्रकार से की है। किन्तु हम यह प्रत्यक्ष अनुभव से कह सकते हैं कि मुद्रा वह वस्तु है "जो विना किसी प्रकार की हिचकिचाहट के सर्वग्राह्य हो, विनिमय-माध्यम का कार्य करती हो तथा जिसको देने से हम पूर्णतया ऋणमुक्त हो सकते हों।" फिर चाहे ऐसी कोई भी वस्तु हो। प्रो० एली कहते है कि "मुद्रा शब्द का प्रयोग वहीं तक सीमित है जहाँ तक उसका हस्तान्तरण विना किसी रुकावट के विनिमय-माध्यम के रूप में तथा अन्तिम ऋणशोधक के रूप में सर्वग्राह्य हो।"[1] रावर्टसन के अनुसार "कोई भी वस्तु जो माल के भुगतान में अथवा अन्य प्रकार के व्यापारिक ऋणशोधन में सर्वत्र स्वीकृत हो वही मुद्रा है।"[2] प्रो० सेलिगमेन के शब्दों में "मुद्रा वह वस्तु है जिसमें सर्वग्राह्यता है।"[3] प्रो० आलफ्रेड मारशल के अनुसार "ऐसी सब वस्तुएँ जो बिना किसी सन्देह के अथवा विशेष जाँच के, सेवाओं, वस्तुओं के क्रय एवं खर्चों के भुगतान में साधन की तरह चलन में हैं, वही मुद्रा है।"[4] श्री० क्राउथर के शब्दों में "कोई वस्तु जो विनिमय के साधन के रूप में सामान्यतः सर्वग्राह्य हो तथा उसी समय मूल्यमापन तथा मूल्य-संचय का कार्य करती हो, मुद्रा है।"[5]

इन सब परिभाषाओं को देखने से यह स्पष्ट होता है कि मुद्रा विनिमय के साधन का, मूल्यमापन का तथा मूल्य-संचय का कार्य करने वाली सर्वग्राह्य वस्तु हो; और सर्वग्राह्य वस्तु वही हो सकती है जिसका मूल्य एवं प्रचार सब देशों में हो अतः ऐसी मुद्रा केवल मूल्यवान धातु अर्थात् सोने व चाँदी की ही हो सकती है। किन्तु आधुनिक अर्थ-व्यवस्था में पत्र-मुद्रा या कागज के

---

1 '*The use of the term money is restricted to those instruments of general acceptability, which pass freely from hand to hand as a medium of exchange and are generally received in discharge of final debts as money.*"

2 "*Anything which is widely accepted in payments for goods or in discharge of other kinds of business obligations.*"

3 "*Money is one thing that possesses general acceptability.*"

4 "*All those things which are generally current without doubt or special enquiry as a means of purchasing commodities and services and of defraying expenses.*"

5 "*Anything that is generally acceptable as a means of exchange and at the same time acts as a measure and as a store of value.*"

नोट भी चलन में रहते हैं और देश की पत्र-मुद्रा उस देश में सर्वग्राह्य होती हैं। अतः इन सब परिभाषाओं से अधिक उपयुक्त कोल की परिभाषा है। उनके शब्दों में "मुद्रा क्रय-शक्ति है—कोई भी वस्तु जिससे अन्य वस्तुएँ खरीदी जा सकें।"[1] इसके अन्तर्गत ऐसे सब साधन आ जाते हैं जो विनिमय का कार्य करते हैं; उदाहरणार्थ धातु-मुद्रा, पत्र-मुद्रा, धनादेश (Cheques), हुण्डी आदि, किन्तु "हमारी मुद्रा की विचारधारा में से धनादेश, तथा हुण्डियों को हमें बहिष्कृत करना पड़ेगा"[2] ऐसा भी उन्होंने कहा है। हार्टले विदर्स के शब्दों में "मुद्रा वह है जो मुद्रा का कार्य करती है,"[3] अर्थात् मुद्रा के कार्य करने वाली जितनी भी वस्तुएँ हैं वे मुद्रा हैं। किन्तु उपयुक्त परिभाषाओं के होते हुए भी ऐसी एक भी सरल परिभाषा नहीं है जिससे मुद्रा का सम्पूर्ण रूप प्रकट हो सके। अतः हमारी दृष्टि से मुद्रा वह वस्तु है जो मूल्यमापन तथा मूल्य-संचय का कार्य करते हुए सबसे आवश्यक कार्य विनिमय-माध्यम का करे। इसी प्रकार की परिभाषा वॉकर ने भी की है—"जो वस्तु सम्पूर्ण ऋणशोधन के लिए एक-दूसरे के प्रति बिना किसी सन्देह के अनिर्बन्ध रीति से हस्तान्तरित होती है तथा जो देने वाले व्यक्ति की साख के सोच-विचार के बिना निस्सन्देह स्वीकृत होती है ऐसी किसी भी वस्तु को हम मुद्रा कह सकते हैं।" इस परिभाषा के अन्तर्गत धनादेश, हुण्डियाँ आदि नहीं आते क्योंकि उनको बिना साख की जाँच किए अथवा बिना उस व्यक्ति की जानकारी के कोई भी व्यक्ति सम्पूर्ण ऋणशोधन में अथवा माल के भुगतान में स्वीकृत नहीं करता। अर्थात् प्रतिनिधिक चलन, जैसे धनादेश आदि में अनिर्बन्ध सर्वग्राह्यता नहीं होती किन्तु विनिमय के सब प्रकार के लेन-देन में अथवा भुगतान में अनिर्बन्ध सर्वग्राह्यता, मुद्रा का विशेष लक्षण है। आजकल यह सर्वग्राह्यता कानून के द्वारा घोषित की जाती है इसलिए हम उसे विधिग्राह्य (Legal Tender) कहते हैं; और जो मुद्रा किसी राष्ट्र-विशेष में विधिग्राह्य होती है वही उस देश का चलन है।

मुद्रा के कार्य (Functions of Money)

इन परिभाषाओं में मुद्रा के केवल विनिमय-माध्यम तथा सर्वग्राह्य होने पर ही जोर दिया गया है परन्तु इन कार्यों के अतिरिक्त मुद्रा और भी अनेक कार्य

---

1 *"Money is Purchasing Power—something which buys things."*

2 *"It is most expedient to exclude Bills of Exchange as well as Cheques from our conception of money."*

करती है जिनको समझे बिना हमें मुद्रा के स्वरूप की पूर्ण कल्पना नहीं हो सकती। मुद्रा के सम्पूर्ण कार्यों को हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं :—

(१) प्राथमिक कार्य (Primary Functions)।
(२) गौण कार्य (Secondary Functions)।
(३) आकस्मिक कार्य (Contingent Functions)।

१. प्राथमिक कार्य : मुद्रा के प्राथमिक कार्य वे हैं जो मुद्रा द्वारा किसी समय तथा किसी भी समाज में अबाधित रूप से हों। ये कार्य दो हैं :— विनिमय-माध्यम तथा मूल्यमान अथवा मूल्यमापन का साधन।

विनिमय-माध्यम (Medium of Exchange) : मुद्रा में सर्व-ग्राह्यता होने के कारण वह विनिमय में सुगमता लाती है। सब प्रकार की वस्तुओं के मूल्य मुद्रा-माध्यम में प्रकट होने के कारण वस्तु-विनिमय की कठिनाइयों को भी वह दूर करती है। मुद्रा के द्वारा पहले हम अपनी सेवाओं अथवा अतिरिक्त उत्पादन को बेचकर मुद्रा पर अधिकार प्राप्त करते हैं तथा उसी मुद्रा से फिर हम अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्य वस्तुओं अथवा सेवाओं को खरीदते हैं। अतः वही मुद्रा सर्वग्राह्य हो सकती है एवं सर्वमान्य रूप से चलन में आ सकती है जो इस प्राथमिक तथा अत्यावश्यक कार्य को करे। मुद्रा की हमें इसीलिए आवश्यकता है कि वह हमें दूसरी वस्तुओं पर अधिकार दिलाती है—वह हमारी क्रयशक्ति है।

मूल्यमान या मूल्यमापन का साधन (Measure or Standard of Value) : प्रत्येक वस्तु के नापने के लिए हमें किसी न किसी मापक की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार गज, दूरी नापने लिए तथा पौण्ड, मन, सेर, छटाँक, वजन नापने के लिए हैं, उसी प्रकार मुद्रा अन्य वस्तुओं के मूल्यों में क्या परस्पर सम्बन्ध है यह बतलाती है, अर्थात् मुद्रा मूल्यमापन का कार्य करती है। इसी कारण सब वस्तुओं का मूल्य मुद्रा में नापा जाता है अर्थात् मुद्रा में प्रकट किया जाता है जिसे हम मूल्य कहते हैं। मुद्रा के इस कार्य द्वारा वस्तुओं के परस्पर मूल्यों की तुलना करने तथा उनके मूल्य निश्चित करने में सुगमता होती है। इस प्रकार वस्तु-विनिमय में मूल्यमापन के अभाव की जो कठिनाई थी वह भी दूर हो जाती है तथा विनिमय का कार्य अधिक सुगम हो जाता है।

२. गौण कार्य : प्राथमिक कार्य समाज की प्राथमिक आर्थिक व्यवस्था में मुद्रा-वस्तु द्वारा पूर्ण किये जाते हैं परन्तु ये गौण कार्य समाज का आर्थिक विकास होने के उपरान्त ही दृष्टिगोचर होते हैं तथा इन कार्यों की उत्पत्ति भी

प्राथमिक कार्यों से ही होती है अतः इनको गौण कार्य कहा जाता है। ये कार्य दो हैं :—मूल्य-संचय तथा स्थगित देयमान ।

मूल्य-संचय अथवा मूल्य-संग्रह (Store of Value) करने के साधन का कार्य भी मुद्रा ही करती है। हम वर्तमानकालीन उपभोग के उपरान्त कुछ मूल्यावशेष भविष्यकालीन उपभोग के लिए भी संग्रह करना चाहते हैं और वस्तुओं का संग्रह सम्भव नहीं होता क्योंकि वे शीघ्र नाशकारी होती हैं। अतः भविष्य की उपभोग्य वस्तुओं का संग्रह करने का साधन प्रत्येक व्यक्ति चाहता है और मुद्रा के मूल्य में स्थायित्व (Stability) होने के नाते तथा वही क्रयशक्ति होने के नाते हम मुद्रा के रूप में कुछ संग्रह कर सकते हैं, जो भविष्य में हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति के काम आ सकें। इसके अतिरिक्त, मुद्रा का संग्रह अपने पास न करते हुए यदि हम अधिकोष (Bank) में उसे जमा रखें तो उसी रकम से उत्पादन कार्य में भी वृद्धि हो सकती है । इस प्रकार मुद्रा का तीसरा कार्य मूल्य-संचय है।

स्थगित देयमान (Standard for Deffered Payments) अर्थात् भविष्यकालीन ऋणशोधन अथवा भुगतान का कार्य भी मुद्रा ही करती है, क्योंकि आधुनिक व्यापारिक लेन-देन में साख का बहुत महत्त्व है। हम प्रत्येक वस्तु के बदले में उसी समय भुगतान नहीं करते अपितु भविष्य में भुगतान करते हैं। इसीलिए ऐसे देय को स्थगित देय कहा है। ऐसे स्थगित-देय के व्यवहार आजकल बहुत अधिक परिमाण में होते हैं इसका एकमात्र कारण यही है कि मुद्रा के मूल्य में स्थायित्व रहता है तथा वस्तुओं के मूल्य भी मुद्रा में निर्देशित किये जाते हैं। इसी कारण आज १०० रुपये मे खरीदे हुए माल का भुगतान हम एक वर्ष बाद १०० रुपये देकर कर सकते हैं। इस कार्य को स्थगित देयमान कार्य कहते है जो मुद्रा का चौथा कार्य है।

३. आकस्मिक कार्य : किनले नामक अर्थशास्त्री के अनुसार मुद्रा इन कार्यों के अतिरिक्त चार आकस्मिक कार्य और करती है जो कि केवल आज की अर्थ-व्यवस्था में होते हैं, परन्तु प्राथमिक अवस्था में नहीं होते थे और न यही कहा जा सकता है कि आगामी अर्थ-व्यवस्था में वे कार्य होंगे ही[1]। ये कार्य निम्नलिखित हैं :—

(क) मुद्रा साख के आधार का कार्य करती है[1] : आज के समाज में प्रत्यय-पत्रों का अथवा साख-पत्रों (जैसे धनादेश, हुण्डी आदि) का उपयोग मुद्रा की तरह ही होता है क्योंकि प्रत्यय-पत्रों का अधिकार हमको उनके निर्देशित मूल्य की मुद्राओं पर अधिकार देता है। अधिकोष जो पत्र-मुद्रा चलन में लाते हैं उनकी साख रखने के लिए वे अपने कोष (Reserve) में

कुछ न कुछ मुद्रा अवश्य रखते हैं जिससे ऐसे प्रत्यय-पत्रों के बदले में वह मुद्रा दे सकें। इससे यह स्पष्ट है कि मुद्रा के अभाव में प्रत्यय-पत्रों का चलन नहीं हो सकता था और न साख की ही इतनी वृद्धि हो सकती थी जितनी कि आज हम देखते हैं। इस प्रकार मुद्रा साख के आधार का कार्य भी करती है।[1]

(ख) मुद्रा उद्योगों की संयुक्त आय के वितरण का कार्य करती है[2]: चूँकि आजकल मुद्रा मूल्यमापक है इसलिए प्रत्येक वस्तु का मूल्य मुद्रा में निर्धारित किया जाता है। उद्योगों में अनेकों व्यक्ति मिलकर कुछ उत्पादन करते हैं तथा इस उत्पादन में भूमि, पूँजी तथा संगठन का भी कुछ हिस्सा होता है। मुद्रा के अभाव में इन चारों घटकों को उनकी सेवाओं का मूल्य देना इतना सुगम नहीं था जितना कि आज है और न पहले ऐसे कारखाने ही थे। किन्तु आज उत्पादन का मूल्य मुद्रा में निश्चित होने के कारण मुद्रा में ही श्रमिकों की पूँजी आदि की सेवाओं का मूल्य उन्हें दिया जा सकता है।

(ग) उपभोक्ता को समसीमान्त उपयोगिता प्राप्त करने में मुद्रा सहायक होती है[3]: यह भी आज की अर्थ-व्यवस्था की एक विशेषता है, और मुद्रा का तीसरा आकस्मिक कार्य है। चूँकि प्रत्येक वस्तु से मिलने वाली उपयोगिता की तुलना हम उस पर खर्च होनेवाली मुद्रा से कर सकते हैं इसलिए मनुष्य हमेशा अपना खर्च इस प्रकार से करता है जिससे कि उसको कम व्यय में अधिकाधिक उपयोगिता की प्राप्ति हो।

(घ) मुद्रा सब प्रकार की सम्पत्ति तथा पूँजी को एक सामान्य रूप देती है[4]: क्योंकि हम पूँजी अथवा सम्पत्ति को एक सरल रूप में—मुद्रा में—रख सकते हैं, जिसके द्वारा हम अपनी आवश्यक वस्तुओं को किसी भी समय खरीद सकते हैं।

किन्तु उपर्युक्त कार्यों को करने के लिए यह आवश्यक है कि मुद्रा के मूल्य में स्थायित्व हो अर्थात् उसके मूल्य मे इस प्रकार की तेजी या मन्दी न आए जिससे कि उस मुद्रा के प्रति जनता को अविश्वास हो।

मुद्रा का स्वरूप एवं महत्त्व
(Nature and Importance of Money)

विनिमय एवं मुद्रा के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि हम

---

[1] *Money forms as a basis of credit.*

[2] *It functions as distributor of joint products.*

[3] *It helps to attain equi-marginal-utility to the consumers.*

[4] *It gives a generic form to capital.*

अपनी सेवाएँ तथा वस्तुएं दूसरे व्यक्तियों की सेवाओं तथा वस्तुओं के साथ बदलते हैं किन्तु वह हमारा साध्य नहीं है, क्योंकि ये सेवाएँ अथवा वस्तुएँ हम अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए—उपभोग के लिए—चाहते हैं, अर्थात् ये हमारे साधन हैं। अब वही वस्तुएँ अथवा सेवाएँ हम मुद्रा के माध्यम से खरीद अथवा बेच सकते हैं, फिर भी मुद्रा हम अपने पास रखने के लिए नहीं चाहते बल्कि इसलिए चाहते हैं कि उसमें क्रयशक्ति है—उसको देने से हम आवश्यक वस्तुओं पर अधिकार प्राप्त करते हैं। मुद्रा साधन रूप है, और वस्तुओं का क्रय एवं उसका उपभोग साध्य है। हमारे पास यदि मुद्रा—क्रयशक्ति—है तो हम किसी भी समय, किसी भी वस्तु पर अधिकार प्राप्त कर सकते हैं। वेस्टन के शब्दों में "मुद्रा वस्तु-संग्रह के अधिकार का प्रमाण-पत्र है जो समाज के द्वारा मान्य किया जायगा।"[1] क्रयशक्ति का मुद्रा में होना अथवा मुद्रा के अस्तित्व से किसी भी वस्तु पर अधिकार की प्राप्ति, यही मुद्रा का वास्तविक स्वरूप है जिसके लिए मनुष्य मुद्रा-प्राप्ति के लिए अविरत प्रयत्नशील है; परन्तु मुद्रा केवल साधन-रूप है, न कि साध्य। इसी के साथ, मुद्रा मूल्यमान का कार्य करती है, इसलिए मुद्रा के द्वारा हम अन्य वस्तुओं के मूल्यों की तुलना करते हैं। इस कारण भी प्रत्येक व्यक्ति ऐसी मूल्यमापक वस्तु सदैव अपने पास रखना चाहता है। अर्थात् मूल्यमापकता तथा क्रयशक्ति—यह मुद्रा का सत्य एवं वास्तविक स्वरूप है।

मुद्रा से लाभ

आज के आर्थिक समाज में मुद्रा का महत्त्व बहुत अधिक है क्योंकि उससे होने वाले लाभ भी बहुत हैं। मुद्रा के अस्तित्व के कारण ही वस्तु-विनिमय की कठिनाइयाँ दूर हुईं तथा वर्तमान आर्थिक सङ्गठन सम्भव हुआ क्योंकि आजकल, बाजारों में माल बिकेगा, इस सम्भावना से ही उत्पादन किया जाता है। उसी प्रकार हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति भी पहले की तरह प्रत्यक्ष विनिमय से न होते हुए कई रुकावटों के बाद होती है। मुद्रा के कारण तथा विनिमय पद्धति में सुधार होने से ही बड़े-बड़े कारखाने तथा बड़े परिमाण के उत्पादन सम्भव हो सके हैं तथा उद्योगों में श्रम-विभाजन के तत्त्व का भी अवलम्बन हो सका है। आजकल के कारखानों के लिए आवश्यक भिन्न-भिन्न घटकों (Factors of Production) का एकत्रीकरण मुद्रा से ही सम्भव हुआ है। वर्तमान समय की अधिकोषण, आगोप (Insurance) आदि बड़ी-बड़ी व्यापारिक संस्थाओं की बाढ़ का एकमात्र कारण मुद्रा ही

[1] *"It is a certificate that the claims a man has upon the stock of goods will be honoured."*

है। इसके अतिरिक्त बड़े-बड़े कारखानों के लिए जो बड़ी मात्रा में पूँजी लगी है उसमें भी मुद्रा के अस्तित्व से ही गति-सामर्थ्य आया क्योंकि अधिकोष मुद्रा को—पूँजी को—दूसरी जगह, जहाँ पर वह अच्छी तरह से उपयोग में आ सके, विनियोग करते हैं। आज जो बाजार इतने विस्तृत हुए तथा अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में वृद्धि हुई वह केवल मुद्रा के अस्तित्व से ही हुई। इतना ही नहीं, बल्कि प्रत्येक मनुष्य, समाज एवं देश को अन्य व्यक्तियों, समाजों एवं देशों पर अपनी आवश्यकताओं के लिए निर्भर रहना पड़ता है इस कारण राष्ट्रीय एकीकरण तथा अन्तर्राष्ट्रीय मेल-जोल बढ़ा [illegible]द्रा के अस्तित्व से स्पर्धा तथा कन्ट्राट ने रूढ़ियों को हटा दिया और [illegible] को आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक दृष्टि से स्वतन्त्र बनाया। अर्थात् [illegible]शल के शब्दों में, मुद्रा अर्थ-शास्त्र की गति का केन्द्र है।[1]

मुद्रा के दोष

इतने सब लाभ होते हुए भी मुद्रा में कुछ दोष अवश्य हैं क्योंकि अखिल विश्व आर्थिक कार्यों के लिए मुद्रा पर निर्भर होने से उसके मूल्य के थोड़े-से भी उतार-चढ़ाव (Rise and Fall) से समाज पर भयंकर परिणाम होता है क्योंकि मुद्रा का मूल्य पूर्णतः स्थायी नहीं है, उसमें थोड़ा-बहुत परिवर्तन होता रहता है। आज की सदोष वितरण पद्धति, बाजारों की तेजी व मन्दी, तथा व्यापारिक अनैतिकता, ये सब मुद्रा के दोष ही हैं। किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि मुद्रा एक बुरी वस्तु है। जहाँ इससे इतने लाभ हैं वहाँ इसमें कतिपय दोष भी हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय सुसंचालित मुद्रा-मान पद्धति (Monetary Standard) के अवलम्बन से दूर किये जा सकते हैं।

प्रश्न

१. मुद्रा की व्याख्या करके उसका स्वरूप एवं आधुनिक अर्थ-व्यवस्था में उसका क्या महत्त्व है, बतलाइये।

२. मुद्रा के विभिन्न कार्यों का सम्पूर्ण विवेचन कीजिये।

३. मुद्रा से केवल लाभ ही लाभ हैं अथवा हानि भी? अगर है तो उसका निवारण किस प्रकार हो सकता है?

४. आज की अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा कौन-कौन कार्य करती है? वे कार्य पहले होते थे अथवा नहीं, सकारण उत्तर दीजिए।

---

[1] *Money is the pivot around which economic science clusters.*

अध्याय ३

मुद्रा-वस्तु के गुण-धर्म अथवा विशेषताएँ

[illegible] पहले अध्याय में देखा कि प्राथमिक अवस्था से अभी तक अनेक वस्तुएँ मुद्रा के रूप में आईं, लेकिन ऐसी सब वस्तुएँ मुद्रा के प्राथमिक कार्य ही करने में समर्थ थीं। अन्त में हमारे सामने सर्वमान्य मुद्रा-वस्तु के रूप में सोना तथा चाँदी का उपयोग होने लगा तथा आज भी होता है। अतः यह जानना आवश्यक है कि मुद्रा-वस्तु में कौन-कौन गुण-धर्म होना आवश्यक है जिससे कि वह सर्वमान्य हो तथा मुद्रा के कार्यों को भली भाँति पूर्ण कर सके। यदि हम मुद्रा के कार्यों का विचार करें तो कौन-कौन गुण-धर्म मुद्रा-वस्तु में होना आवश्यक है, यह हम अच्छी तरह समझ सकते हैं। इसका समीकरण नीचे दिया है :—

१. विनिमय-माध्यम : अनिर्बन्ध ग्राह्यता, सुवाह्यता, सुविभाज्यता तथा एकरूपता।

२. मूल्यमान : मूल्य, सुविभाज्यता, एकरूपता तथा सुज्ञेयता।

३ मूल्य-संचय : मूल्य-स्थायित्व, स्थास्नुता (Durability) अथवा अविनाशित्व।

४. स्थगित देयमान : मूल्य-स्थायित्व।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि मुद्रा-वस्तु में १. अनिर्बन्ध ग्राह्यता (General Acceptability), २. मूल्य (Value), ३. सुवाह्यता (Portability), ४. एकरूपता (Cognisibility), ५. सुज्ञेयता (Homogeneity), ६. मूल्य-स्थायित्व (Stability in Value), ७. सुविभाज्यता (Divisibility) तथा ८. स्थास्नुता अथवा अविनाशित्व (Durability) ये आठ विशेषताएँ होनी चाहिएँ।

प्राचीन काल में जिन वस्तुओं ने विनिमय-माध्यम का कार्य किया उनमें उपर्युक्त विशेषताओं में से किसी न किसी का अभाव होने के कारण ही उनके बदले सोना और चाँदी मुद्रा-वस्तु के रूप में विराजमान हुए।

१. अनिर्बन्ध ग्राह्यता : कोई भी वस्तु लेन-देन में अनिर्बन्ध रीति से ग्राह्य हो इसके लिए यह आवश्यक है कि उस वस्तु में मूल्य हो। सोना और चाँदी में उनकी कमी होने तथा उनके दुष्प्राप्य होने के कारण मूल्य है। गहने तथा कला के काम में भी ये धातुएँ उपयोग में आती हैं इसीलिए इनमें अनिर्बन्ध ग्राह्यता तथा आन्तरिक मूल्य भी है। उपयोगिता का गुण भी मुद्रा-वस्तु में होना चाहिए। वैसे तो मुद्रा विधिग्राह्य कर देने से उसमें अनिर्बन्ध ग्राह्यता की विशेषता आ जाती है—किन्तु केवल उसी देश में जहाँ पर कि वह प्रचलित है।

२. मूल्य : मुद्रा-वस्तु में बाहरी मूल्य के साथ उसमें आन्तरिक मूल्य भी होना चाहिए तभी ऐसी मुद्रा बिना किसी जाँच या सन्देह के सर्वमान्य एवं सर्वग्राह्य होती है।

३. सुवाह्यता अर्थात् एक जगह से दूसरी जगह ले जाने में सुगमता : मुद्रा को एक जगह से दूसरी जगह हमको भेजना पड़ता है तथा मूल्य हस्तान्तरण करना पड़ता है। ऐसे समय वह मुद्रा-वस्तु ऐसी होनी चाहिए जिसमें कम आकार में तथा कम वजन में अधिक मूल्य मिले। उदाहरणार्थ, गेहूँ अथवा पशु का जब मुद्रा के रूप में उपयोग होता था तब उनको एक जगह से दूसरी जगह ले जाने में कठिनाई पड़ती थी किन्तु अब सोना एक ऐसी वस्तु है जिसमें छोटे से आकार में ही अधिक मूल्य रहता है। यह विशेषता सबसे अधिक पत्र-मुद्रा में है।

४. एकरूपता अथवा समरूपता : मुद्रा-वस्तु में समरूपता होना चाहिए अर्थात् वह वस्तु ऐसी हो जिसके समान वजन के अथवा समान आकार के यदि अनेक टुकड़े कर दिये जाएँ तो उनका मूल्य एक ही हो। इसी प्रकार ऐसे टुकड़ों को एक ठोस टुकड़े में परिवर्तन करने से वस्तु में एकरूपता रहे एवं मूल्य में भी कमी न आए।

५. सुज्ञेयता अर्थात् वह वस्तु बिना किसी कठिनाई के पहिचानी जा सके तथा उसमें धोखे की सम्भावना कम हो।

६. मूल्य-स्थायित्व : उस वस्तु में मूल्य-स्थायित्व होना आवश्यक है जिससे वह मुद्रा के मूल्य-सञ्चय तथा स्थगित देयमान, इन कार्यों को कर सके क्योंकि अगर मूल्यों में सदैव उतार-चढ़ाव रहेगा तो ऐसी वस्तु का कोई भी व्यक्ति संग्रह नहीं करेगा, कारण उसमें हानि की सम्भावना रहती है। इसी प्रकार स्थगित देयमान का कार्य भी वह मुद्रा-वस्तु नहीं कर सकेगी क्योंकि मूल्यों के उतार-चढ़ाव के कारण देनदार अथवा लेनदार किसी न

किसी को हानि होती ही है। अतः मुद्रा-वस्तु में मूल्य-स्थायित्व होना चाहिए।

७. सुविभाज्यता अर्थात् मूल्य अथवा उपयोगिता में किसी प्रकार की हानि न होते हुए उस वस्तु का विभाजन सम्भव होना चाहिए जिससे कि थोड़ी रकम के लेन-देन के उपयोग में भी वह वस्तु आ सके।

८. स्थास्नुता अथवा अविनाशित्व : मुद्रा-वस्तु में अविनाशित्व होना इसलिए आवश्यक है कि उसमें अधिक काल तक चलन में रहने से घिसावट (Wear and Tear) अधिक न हो। उसी प्रकार यदि उसको एक स्थान पर कई वर्षों तक रख भी दिया जाय तो भी उसके मूल्य में हानि न हो। इसी गुण से उस वस्तु में मूल्य-स्थायित्व भी रहता है तथा वह मूल्य-संचय एवं स्थगित देयमान का कार्य भी कर सकती है।

इन विशेषताओं के अतिरिक्त मुद्रा-वस्तु में शीघ्र-द्रवता एवं शीघ्र-घनता के गुण भी होना चाहिए जिससे सिक्के बनाने में सुगमता हो तथा द्रवीकरण अथवा घनीकरण से उसके मूल्य एवं उपयोगिता में किसी प्रकार की कमी न हो।

उपर्युक्त गुणों का एक साथ अस्तित्व हम केवल सोना एवं चाँदी में ही पाते हैं इसीलिए सभी देशों में मुद्रा-वस्तु के रूप में इनका प्रचार एवं उपयोग हुआ।

प्रश्न

१. मुद्रा-वस्तु में कौनसी विशेषताएँ होनी चाहिएँ तथा क्यों ?

२. मुद्रा-वस्तु के लिए सोना तथा चाँदी का उपयोग क्यों होता है ? क्या अन्य किसी धातु का उपयोग नहीं हो सकता ?

अध्याय ४

मुद्रा का वर्गीकरण एवं तत्सम्बन्धी शब्द-प्रयोग

मुद्रा का वर्गीकरण अर्थ-शास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। परन्तु हमको व्यावहारिक जगत् में विशेषतः दो प्रकार की मुद्राएँ मिलती हैं :—

१. धातु-मुद्रा (Metallic Money) तथा

२. पत्र-मुद्रा (Paper Money)।

धातु-मुद्रा वह है जिसमें किसी न किसी धातु के सिक्के चलन में रहते हैं तथा पत्र-मुद्रा वह है जो किसी विशेष अधिकृत व्यक्ति द्वारा, अधिकोष द्वारा अथवा सरकार द्वारा कागज पर अपने विशेष चिह्न लगाकर व्यवहार में लाई जाती है।

धातु-मुद्रा भी दो प्रकार की होती है :—प्रधान, प्रमाणित अथवा सर्वांग-मुद्रा (Standard Money) तथा गौण, सांकेतिक अथवा प्रतीक-मुद्रा (Token Money)।

प्रधान मुद्रा

प्रधान मुद्रा उस धातु की बनाई जाती है जो किसी भी देश में कायदे से विनिमय-माध्यम तथा मूल्यमान के लिए निश्चित की जाती है, ऐसी मुद्रा सोने या चाँदी की ही होती है। इस मुद्रा के सिक्के किसी विशिष्ट एवं निश्चित वजन के, निश्चित मूल्यमापक तथा निश्चित शुद्धता वाले वनाए जाते हैं जो कि देश के टंकण विधान (Coinage Act) के द्वारा निश्चित किया जाता है। इस मुद्रा के प्रधान लक्षण तीन हैं :—

१. मुक्त टंकण स्वातन्त्र्य (Free Coinage) : इसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकतानुसार, उसके बदले उतने ही वजन एवं मूल्य की धातु देकर, सिक्कों का टंकशाला (Mint) से टंकण करा सकता है। इसमें सरकार की ओर से किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध अथवा रुकावट नहीं होती। ऐसे टंकण के लिए सरकार उस व्यक्ति से टंकण-शुल्क (Charge for

Coinage) लेती है अथवा नहीं भी लेती। इस अवस्था में देश में सिक्कों की कमी नहीं आती।

२. आन्तरिक एवं वाह्य मूल्य में समानता (Equality in the Face Value and Intrinsic Value) : टंकण विधान के अन्तर्गत सिक्के का वाह्य मूल्य तथा उसमें कितनी धातु होगी यह निश्चित किया जाता है। प्रधान सिक्के के आन्तरिक मूल्य तथा वाह्य मूल्य में समानता होनी चाहिए—जैसे, भारतीय रुपये का वाह्य मूल्य १६ आने है तो उसमें १६ आने मूल्य की ही चाँदी होनी चाहिए अर्थात् आन्तरिक मूल्य १६ आने ही होना चाहिए।

३. असीमित विधिग्राह्यता (Unlimited Legal Tender) : उपर्युक्त दो विशेपताओं के कारण तथा यह मुद्रा देश की प्रधान मुद्रा होने कारण किसी भी व्यक्ति को यह असीमित संख्या में कानूनन स्वीकार करनी पड़ती है। अर्थात् ऐसी मुद्रा में असीमित विधिग्राह्यता होती है क्योंकि बड़े-चढ़े लेन-देन के व्यवहार प्रधान मुद्रा में ही होते हैं।

गौण मुद्रा

इसके विपरीत लक्षण प्रतीक अथवा गौण मुद्रा में पाये जाते हैं, क्योंकि गौण मुद्रा केवल अल्प परिमाण के व्यवहारों के भुगतान के लिए चलाई जाती है जिससे कि प्रधान मुद्रा के लिए वह सहायक रहे। यह सिक्का प्रायः गौण धातु का बनाया जाता है जैसे ताँबा, निकेल आदि; और कोई भी व्यक्ति इसका टंकण नहीं करा सकता अर्थात् यह केवल देश की सरकार द्वारा ही ढलवाया जाता है। दूसरे, इसका विधि मूल्य अथवा वाह्य मूल्य इसके आन्तरिक अथवा धातु मूल्य से अधिक होता है और तीसरे, ऐसे सिक्कों को लेन-देन में सीमित संख्याओं में ही दिया जाता है जैसे इंगलैण्ड में शिलिंग ४० की संख्या तक विधिग्राह्य है तथा भारत में चवन्नी तथा इकन्नी केवल १० रुपये तक ही विधिग्राह्य हैं। गौण, प्रतीक तथा सांकेतिक मुद्रा के निम्न तीन लक्षण हैं:—

१. प्रतिबन्धित टंकण (Restricted Coinage),
२. आन्तरिक मूल्य से वाह्य मूल्य में अधिकता (More Face Value than Intrinsic Value) तथा
३. सीमित विधिग्राह्यता (Limited Legal Tender).

क्या भारतीय रुपया प्रधान सिक्का है ?

भारतीय सिक्का रुपया शुरू से आज तक प्रधान सिक्का माना जाता है किन्तु प्रधान सिक्के की सब विशेपताएँ इसमें नहीं हैं अर्थात् न अन्तर तथा वाह्य मूल्य में समानता है और न मुक्त टंकण-स्वातन्त्र्य ही है। यह टंकण-स्वातन्त्र्य सन् १८६३ तक भारतीय रुपये में था किन्तु १८६३ से वह छीन लिया गया। हाँ, यह असीमित विधिग्राह्य अवश्य है। सारांश, इसमें केवल असीमित विधिग्राह्यता ही प्रधान सिक्के का लक्षण है, अन्य दो लक्षण—प्रतिबन्धित टंकण तथा वाह्य मूल्य की धातु मूल्य से अधिकता—प्रतीक अथवा गौण मुद्रा के हैं अतः यह भारत की कानूनन प्रधान मुद्रा होते हुए भी सर्वांग पूर्ण प्रधान मुद्रा नहीं कही जा सकती।

मुद्रा की उत्क्रान्ति

सोने व चाँदी का मुद्रा-वस्तु के रूप में जब सर्व प्रथम प्रयोग आरम्भ हुआ उस समय ये टुकड़ों अथवा छड़ियों में ही प्रयोग में आते थे और लेने वाले को इनकी शुद्धता तथा वजन की तोल एवं जाँच करनी पड़ती थी। अतः बाजार में व्यापारियों को सोने-चाँदी की जाँच तथा वजन करने के लिए आवश्यक वस्तुएँ साथ रखनी पड़ती थीं। इस कठिनाई को हटाने के लिए जगत् सेठ जैसे कुछ प्रतिष्ठित सर्राफों तथा साहूकारों ने, जिनकी साख का जनता को विश्वास था, सोने-चाँदी पर अपनी मुद्रा अथवा विशेप चिह्न लगाना प्रारम्भ किया जिससे उनकी शुद्धता में मिलावट न की जा सके। फिर भी वजन तो करना ही पड़ता था। इस प्रकार के चलन को "भारक-चलन" (Currency by Weight) कहते हैं। इस वजन करने की कठिनाई को दूर करने की दृष्टि से धातु के एक निश्चित वजन के टुकड़े लेकर उन पर मुद्रा अंकित की जाने लगी जिससे न उनके तौल की और न जाँच की आवश्यकता रहे। फिर भी, इनमें से किनारे काटकर वजन की कमी कर ली जाती थी, अतः तौलने की आवश्यकता कभी-कभी प्रतीत होती थी। इसके बाद क्रमशः सिक्के बनने लगे जिनमें धोखे व जालसाजी की सम्भावना कम थी। तभी से गिने जाने वाली मुद्रा का प्रादुर्भाव हुआ। आज का सिक्का गोल, समान वजन का, निश्चित धातु-मात्रा का एवं किटकिटीदार किनारे का है जिससे उसमें धोखे या जालसाजी की बहुत कम सम्भावना है। फिर भी जाली सिक्के आज भी बनते ही हैं।

मुद्रा-टंकण सम्बन्धी पारिभापिक शब्द

सिक्का बनाने का कार्य सरकार का अथवा सरकार द्वारा नियुक्त किसी

संस्था का होता है। जहाँ ये सिक्के बनते हैं उसे टङ्कशाला या टकसाल (Mint) तथा सिक्का बनाने की क्रिया को टङ्कण (Coinage) कहते हैं। यह टङ्कण तीन प्रकार का होता है :—

मुक्त टङ्कण (Free Coinage) जिसमें कोई भी व्यक्ति टङ्कशाला में धातु ले जाकर सिक्के में परिवर्तन करा सकता है। यह टङ्कण निःशुल्क अथवा सशुल्क होता है। जब टङ्कण के लिए जनता से किसी भी प्रकार का शुल्क (Fee or Charge) नहीं लिया जाय तब हम उसे निःशुल्क (Free or Gratuitous) टङ्कण कहते हैं, तथा जब यह शुल्क सिक्का बनाने में जो खर्च होता है उसी के बराबर होता है, तो उसे टङ्कण शुल्क (Brassage) कहते हैं। इसके अतिरिक्त सरकार कभी-कभी मुद्रा-टङ्कण से जब लाभ उठाना चाहती है उस समय वह शुल्क रूप में वास्तविक खर्च से अधिक रकम वसूल करती है जिसे मुद्रा-टङ्कण-लाभ (Seigniorage) कहते हैं। मुद्रा-टङ्कण-लाभ दो प्रकार से लिया जाता है—एक तो उतनी कीमत की धातु सिक्के में से निकाल कर अन्य धातु की मिलावट करके, तथा सिक्का बनाते समय ही यह लाभ वसूल करके। इस प्रकार का टङ्कण-लाभ सांकेतिक अथवा प्रतीक मुद्रा में सब से अधिक होता है। उदाहरणार्थ, १९४३ के पूर्व रुपये में १६५ ग्रेन चाँदी तथा १५ ग्रेन अन्य धातु थी, उसमें चाँदी का मूल्य केवल ६ आने २$\frac{1}{2}$ पाई था किन्तु रुपये का बाह्यमूल्य १६ आने होने से उस पर सरकार ६ आने ६$\frac{1}{2}$ पाई प्रति रुपया टङ्कण-लाभ लेती थी। प्रतिबन्धित टङ्कण (Restricted Coinage) में सिक्के ढालने का एकाधिकार केवल सरकार तक ही सीमित रहता है, अन्य कोई व्यक्ति टङ्कशाला में धातु देकर सिक्कों में परिवर्तन नहीं करा सकता, अर्थात् जनता के लिए टङ्कशाला खुली नहीं रहती।

विधिग्राह्यता : जिन सिक्कों को कानून के द्वारा स्वीकार करना सरकार बाध्य करती है उन्हें विधिग्राह्य (Legal Tender) कहते हैं। यह विधिग्राह्यता यदि असीमित मात्रा में हो तो उसे असीमिति विधिग्राह्य तथा सीमित मात्रा में हो तो उसे सीमित विधिग्राह्य कहते हैं। ऐसे सिक्कों को जनता चाहे या न चाहे, उसे-उन्हें स्वीकार करना ही पड़ेगा।

मुद्रा-टंकण का हेतु

अभी हमने मुद्रा-टङ्कण सम्बन्धी पारिभाषिक शब्द देखे। किन्तु मुद्रा-टङ्कण का असली कारण क्या है यह भी हमको समझ लेना चाहिए।

मुद्रा-टङ्कण का अधिकार एक अधिकृत संस्था अथवा सरकार के हाथों में होने से सिक्कों में समानता रहती है और ये सब सिक्के किसी एक विशिष्ट धातु, वजन तथा चिन्हों के होने के कारण उनमें सुज्ञेयता होती है अर्थात् वे सरलता से पहिचाने जा सकते हैं। साथ ही साथ, ऐसे सिक्कों में धोखे अथवा जालसाजी की सम्भावना भी कम होती है। अतः सिक्कों में समानता व सुज्ञेयता लाना तथा धोखे की सम्भावना दूर करना, यही मुद्रा-टङ्कण के मूल हेतु हैं।

प्रश्न

१. मुद्राओं का वर्गीकरण कीजिये तथा टङ्कण से कौन-कौनसे लाभ हैं उन्हें भी बताइये।

२. (क) टिप्पणियाँ लिखिये :—

(i)—प्रधान, प्रमाणित अथवा सर्वाङ्ग मुद्रा।

(ii)—गौण, सांकेतिक अथवा प्रतीक मुद्रा।

(ख)—क्या भारतीय सिक्का प्रधान मुद्रा के अन्तर्गत आता है? सकारण उत्तर दीजिये।

३. टङ्कण, टङ्कण-शुल्क, मुद्रा-लाभ, विधिग्राह्यता के विषय में आप क्या जानते हैं?

अध्याय ५

पत्र-मुद्रा

पत्र-मुद्रा क्या है ?

पत्र-मुद्रा कागज पर किसी सरकार अथवा अधिकृत संस्था (जैसे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया) के विशेष चिन्हों द्वारा, माँगने पर निश्चित संख्या में प्रधान मुद्रा देने का लिखित वायदा है ; जैसे १० रुपये का नोट—इसमें रिजर्व बैंक यह वायदा करती है कि उसे भुनाने पर यहाँ के १० प्रधान सिक्के अर्थात् रुपये, वह देगी। पत्र-मुद्रा का चलन मूल्यवान् धातुओं की घिसावट से होने वाली हानि को बचाने के लिए तथा पत्र-मुद्रा की सुरक्षितता, सुवाह्यता आदि लाभों के कारण हुआ। इस प्रकार बचाया हुआ सोना-चाँदी अन्य देशों में विनियोग के काम में तथा कला-कौशल के कार्मो में लाया जाता है। इसके अतिरिक्त पत्र-मुद्रा सरकार को सबसे अधिक लाभप्रद है क्योंकि जब उसकी साख में जनता का विश्वास उठ जाता है तथा ऋणपत्र नहीं खरीदे जाते उस समय पत्र-मुद्रा के प्रसार के द्वारा वह अपने खर्चे पूरे कर सकती है। वास्तव में पत्र-मुद्रा प्रतीक मुद्रा है।

पत्र-मुद्रा के प्रकार

पत्र-मुद्रा तीन प्रकार की होती है :—प्रतिनिधिक, परिवर्तनीय तथा अपरिवर्तनीय।

प्रतिनिधिक पत्र-मुद्रा : जैसा कि नाम से स्पष्ट है, इस प्रकार की पत्र-मुद्रा, कितने मूल्य का सोना-चाँदी अधिकोष के निधि में एकत्रित है अथवा उस देश के खजाने में है, यह बताती है तथा उसका प्रतिनिधित्व करती है। उदाहरणार्थ १००,००० रुपये की प्रतिनिधिक मुद्रा का चलन यह बतायेगा कि हमारे अधिकोष में, जिसने पत्र-मुद्रा को प्रसारित किया, अथवा राष्ट्रीय खजाने में १००० रुपये का सोना या चाँदी है। इस प्रकार की प्रतिनिधिक मुद्रा के अच्छे उदाहरण हैं—अमरीकी स्वर्ण तथा रौप्य प्रमाणपत्र (American Gold and Silver Certificates) जिनके बदले में उतनी ही रकम का सोना या चाँदी अमरीकी खजाने में रखा जाता था।

पत्र-मुद्रा सम्बन्धी सारणी (Table)

पत्र-मुद्रा-चलन

प्रकार :	१—प्रतिनिधिक	२—परिवर्तनीय	३—अपरिवर्तनीय
निधि :	सम्पूर्ण धातुनिधि	धातुनिधि तथा प्रतीक निधि अथवा प्रात्ययिक निधि	किसी भी प्रकार के निधि का अभाव
गुण-दोष :	१—धातु की बचत नहीं होती अतः मितव्ययिता का अभाव २—लोच का अभाव ३—सुरक्षितता एवं परिवर्तनशीलता	१—प्रतीक निधि के बराबर धातु की बचत अतः मितव्ययिता २—लोच अथवा उद्वनम्यता. ३—सुरक्षा तथा परिवर्तनशीलता	१—धातु की बचत अतः मितव्ययिता २—लोच ३—चलनाधिक्य की सम्भावना. ४—सुरक्षितता एवं परिवर्तनशीलता का अभाव

परिवर्तनीय पत्र-मुद्रा : यह वह मुद्रा है जिसको हम किसी भी समय प्रधान सिक्कों में बदल सकते हैं अर्थात् इस प्रकार की मुद्रा में इसको चलाने वाली संस्था यह आश्वासन देती है कि उस कागजी मुद्रा के बदले में, किसी भी समय माँग पर प्रधान मुद्रा दे दी जायगी। इस आश्वासन के कारण ही ऐसी मुद्रा में जनता को विश्वास होता है तथा वह उस देश में सर्वग्राह्य होती है। इस पत्र-मुद्रा-चलन के परिवर्तन के लिए उसके वास्तविक मूल्य के बराबर धातु नहीं रखी जाती बल्कि वह कम होती है। वास्तव में इस प्रकार की पत्र-मुद्रा में निधि (Reserve) तो उसके बाह्य मूल्य के बराबर ही रखा जाता है किन्तु कुछ तो धातु में रखा जाता है तथा शेष किसी प्रकार के विनियोगों (Securities) में। जो निधि धातु में रखा जाता है उसे धात्विक निधि (Metallic Reserve) अथवा रक्षित भाग तथा जो विनियोगों में रखा जाता है उसे प्रात्ययिक निधि अथवा अरक्षित भाग (Uncovered Portion or Fiduciary Portion) कहते हैं। उदाहरणार्थ, किसी देश में १०० रुपये मूल्य की पत्र-मुद्रा चलन में है तथा उसके लिए अधिकोष ने ३० रुपये का सोना निधि में रखा है तथा ७० रुपये के विनियोग (Securities) हैं, तो ३० रुपये वाले भाग को धात्विक निधि तथा ७० रुपये वाले भाग को प्रात्ययिक निधि कहेंगे। धात्विक निधि का परिमाण, उस देश में कितनी रकम की मुद्रा प्रधान मुद्रा में बदली जाती है इसके औसत (Average) पर निर्भर रहता है। भारत में धात्विक निधि का परिमाण ४०% है तथा शेष ६०% प्रात्ययिक निधि है।

अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा : इस प्रकार की पत्र-मुद्रा के बदले में किसी प्रकार के सिक्के अथवा धातु देने के लिए सरकार कानूनन बाध्य नहीं होती। इसका चलन केवल सरकार की साख में जनता का विश्वास होने के कारण अथवा सरकारी फर्मान के द्वारा होता है। इस प्रकार का चलन तभी होता है जब सरकार को मुद्रा की अधिक आवश्यकता होती है, जैसे युद्ध काल में। इस प्रकार की पत्र-मुद्रा के उदाहरण भारतीय १ रु० तथा २ रु० मूल्य की पत्र-मुद्रा है। जनता का विश्वास कायम रखने के लिए यह आवश्यक है कि चलन इस प्रकार नियन्त्रित हो जिसमें माँग से अधिक उनका चलन न हो अन्यथा उससे भयंकर परिणाम होते हैं। इसका विवेचन हम आगे करेंगे। इसीलिए गाइड ने कहा है कि, "यह (अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा) न तो किसी का प्रतिनिधित्व करती है, न किसी (वस्तु) पर अधिकार ही देती है।"[1] इस प्रकार की मुद्रा जनता की सम्मति के बिना लगाए हुए कर के

[1] "*Conventional Paper Money represents nothing and confers a claim to nothing.*"

होती क्योंकि मुद्रा-धातुओं का उत्पादन सीमित है। अतः मुद्रा-प्रसार की सम्भावना के कारण इसके मूल्य स्थायी नहीं रहते।

पत्र-मुद्रा में मूल्य-अविनाशित्व नहीं है, क्योंकि तेल या पानी से भींग जाने पर नोट खराब हो जाते हैं, उनके ऊपर का अङ्क (Note Number) मिट जाता है, जिससे उनका मूल्य कागज के टुकड़े से अधिक नहीं रहता अर्थात् नहीं के बराबर हो जाता है।

अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा-चलन से होने वाली हानियाँ

अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा-चलन में सदैव आवश्यकता से अधिक प्रसार होने की सम्भावना रहती है, विशेषतः संकट काल तथा युद्ध काल में। अधिक प्रसार के कारण पत्र-मुद्रा का मूल्य वस्तुओं के रूप में गिर जाता है अर्थात् उसी रकम से कम वस्तुएँ खरीदी जाती हैं तथा मुद्रा-स्फीति (Inflation) के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं जिससे धातु-मुद्रा का—जो पत्र-मुद्रा से किसी भी स्थिति में अच्छी होती है—संचय करने का प्रत्येक व्यक्ति प्रयत्न करता है। इस प्रकार संचित की हुई धातु-मुद्रा या तो भूमिगत होती है या गलाई जाती है या विदेशी उत्तमर्णों अथवा साहूकारों (Creditors) के शोधन-भुगतान के लिए उपयोग में लाई जाती है। वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाने से स्थायी प्राप्ति वाले लोगों को, उत्तमर्णों को तथा उपभोक्ताओं को हानि होती है। इसी प्रकार विदेशी व्यापार में भी बाधा आती है, वस्तुओं की कीमतें बढ़ने से आयात अधिक होता है और निर्यात कम होता है। किन्तु यह तभी होता है जब ऐसी अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा उससे विचलित (displaced) हुई धातु-मुद्रा से अधिक परिमाण में चलन में आती है।

अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा के चलनाधिक्य (Over-issue) के लक्षण

१. धातु-मुद्रा का विचलन (Displacement or Disappearance of Standard Metallic Money) : इस मुद्रा का माँग से अधिक प्रसार होते ही वस्तुओं की कीमतें बढ़ने लगती हैं अर्थात् पत्र-मुद्रा का मूल्य धातु-मुद्रा के मूल्य से कम हो जाता है। कारण यह है कि जनता का विश्वास पत्र-मुद्रा से उठ जाता है। इसलिए, जैसा कि ऊपर बताया गया है, धातु-मुद्रा का संचय होने लगता है और उस देश से धातु-मुद्रा का विचलन होकर केवल पत्र-मुद्रा ही चलन में रहती है।

२. स्वर्ण पर प्रव्याजि (Premium on Gold) : धातु-मुद्रा और मुद्रा के मूल्यों में अन्तर पड़ते ही समाज पत्र-मुद्रा के बदले में धातु-मुद्रा

लेना चाहता है इस कारण तुलनात्मक दृष्टि से धातु-मुद्रा का मूल्य पत्र-मुद्रा से बढ़ जाता है। उदाहरणार्थ, १०० रु० के नोट के बदले में केवल ६० चाँदी के रुपये दिये जाना (इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हमारे देश में द्वितीय महायुद्ध का है)। इसका अर्थ है कि धातु-मुद्रा अर्थात् स्वर्ण पर अव्याजि देना पड़ता है, और जो लोग विदेशों में भेजने के लिए सोना चाहते हैं उनको १०० रु० के सोने के बदले में १०० रु० से कुछ अधिक रुपये के नोट देने पड़ते हैं।

३. विनिमय-दर मे वृद्धि (Rise in the Rate of Foreign Exchange) : जब स्वर्ण पर अव्याजि लगने लगती है तब विदेशी विनिमय की दर मे भी वृद्धि होती है। जिस दर पर विदेशी हुण्डियाँ बिकती हैं, उसे विनिमय की दर कहते हैं। इन हुण्डियों का भुगतान धातु-मुद्रा में करना पड़ता है—अथात् आमतौर से सोने में। इसका स्पष्ट अर्थ है कि स्वर्ण पर अव्याजि लगते ही विदेशी विनिमय-दर में वृद्धि होती है, जिससे आयात करने वाले व्यापारी को कम लाभ होता है और निर्यात से होने वाला लाभ कम हो जाता है। परिणामस्वरूप विदेशी व्यापार विस्थापित हो जाता है।

४. कीमतों अथवा वस्तु-मूल्यों म वृद्धि (Rise in Prices) : विनिमय-दर में वृद्धि होने से आयात वस्तुओं के मूल्यों में तो वृद्धि होती ही है किन्तु अन्य वस्तुओं के मूल्यों में भी वृद्धि होती है जैसा कि हम ऊपर (१) में स्पष्ट कर चुके हैं। किन्तु तभी होता है जब मुद्रा-प्रसार अधिक परिमाण में हो।

५. पत्र-मुद्रा का अपमूल्यन (Depreciation of Paper Money) : धातु-मुद्रा के विचलन के साथ ही पत्र-मुद्रा के मूल्य में कमी आती है। जैसे-जैसे अधिकाधिक मात्रा में धातु-मुद्राओं का विचलन होता है, पत्र-मुद्रा का मूल्य गिरता जाता है और एक समय ऐसा आता है जब जनता अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा को लेने से इन्कार कर देती है। इस प्रकार पत्र-मुद्रा के मूल्य की गिरावट को अपमूल्यन कहते हैं।

पत्र-मुद्रा-सञ्चालन कौन करे ?

पत्र-मुद्रा का सञ्चालन अधिकोष के द्वारा किया जाय या सरकार के द्वारा, यह प्रश्न प्रारम्भ से ही विवादग्रस्त रहा है तथा इसका सञ्चालन देश में केवल एक ही अधिकोष करे अथवा अनेक अधिकोष करें, यह भी एक समस्या है। यहाँ पर हम पत्र-मुद्रा-सञ्चालन सरकार के अधिकार में हो अथवा अधिकोषों

के, इसका विवेचन करेंगे। इन दोनों पक्षों में सदा वाग्युद्ध होते रहे। एक वर्ग सरकार की ओर से पत्र-मुद्रा का सञ्चालन हो, इसका समर्थक है तथा दूसरा वर्ग अधिकोषों के द्वारा संचालन हो, इस मत का समर्थक है।

जो वर्ग सरकारी नोट के सञ्चालन का समर्थन करता है उसका कहना है कि सरकारी पत्र-मुद्रा के चलन में अधिक सुरक्षितता होती है क्योंकि उसकी परिवर्तनशीलता तथा जनता का विश्वास कायम रखने के लिए देश की सब सम्पत्ति निधि के रूप में रहती है। दूसरे, सरकार पत्र-मुद्रा का चलन अधिक परिमाण में नहीं करेगी क्योंकि परिवर्तनशीलता रखने के लिए उसका प्रत्येक कार्य बहुत सोच-विचार के बाद ही किया जायगा। तीसरे, पत्र-मुद्रा-चलन से होने वाला लाभ सरकारी खजाने में रहेगा जिसका उपयोग सामाजिक हितों में ही होगा, जो हिस्सेदारी के अधिकोष में सम्भव नहीं है। चौथे, चूंकि देश के लेन-देन एवं मुद्रा की व्यवस्था प्राचीन काल से ही सरकार करती आई है इसलिए पत्र-मुद्रा-सञ्चालन का अधिकार भी उसी को होना चाहिए।

इसके विपरीत दूसरे वर्ग का कथन है कि पत्र-मुद्रा-सञ्चालन यदि सरकार के हाथ में रहे तो उसमें लाभ नहीं रहेगा क्योंकि सरकारी काम ढिलाई से और बहुत सोच-विचार के उपरान्त किया जाता है अतः मुद्रा की अधिक आवश्यकता होते ही उसकी पूर्ति नहीं हो सकती। दूसरे, सरकार की भी अपनी आर्थिक आवश्यकताएँ होती हैं, अतः ऐसे समय में सरकार जनहित का ध्यान न रखते हुए एवं अधिक मुद्रा की माँग न होते हुए भी, पत्र-मुद्रा-प्रसार बढ़ा देगी, जिससे व्यापारी वर्ग एव देश के हितों को हानि पहुँचेगी। तीसरे, सरकार का देश के व्यापारी वर्ग से किसी प्रकार का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रहता अतः किसी समय मुद्रा की कितनी आवश्यकता है यह वह ठीक प्रकार नहीं जान सकती। इसका समुचित ज्ञान तो केवल अधिकोषों को ही होता है। अब रहा केवल पत्र-मुद्रा-चलन से होने वाले लाभ का प्रश्न, सो इसके लिए यह उपाय है कि कुछ निश्चित मात्रा मे लाभांश वितरण के बाद जो लाभ शेष रहे वह सरकारी खजाने में जाना चाहिए। अतः इन दोषों को देखते हुए पत्र-मुद्रा-सञ्चालन का काम अधिकोषों द्वारा ही होना चाहिए जिससे पत्र-मुद्रा में लोच रहे अर्थात् उसका प्रसार एवं संकुचन माँग के अनुसार रहे जो केवल अधिकोष ही कर सकता है, क्योंकि उसका व्यापारी वर्ग से दैनिक सम्बन्ध रहता है तथा रोक अथवा नकद रकम के लेन-देन से वह मुद्रा की आवश्यकता का ठीक अन्दाज लगा सकती है। जहाँ तक सुरक्षितता एवं परिवर्तनशीलता का प्रश्न है, इसके लिए सरकार अधिकोष को पत्र-मुद्रा-

चलन का कुछ आंशिक भाग सोना या चाँदी में रखने को कानूनन बाध्य करे। इस प्रकार यदि पत्र-मुद्रा का संचालन अधिकोष के द्वारा होगा तो उसमें सुरक्षितता, परिवर्तनशीलता, लोच तथा एकरूपता रहेगी। इसके अतिरिक्त अधिकोष की सरकार की तरह निजी आर्थिक आवश्यकताएँ न होने से पत्र-मुद्रा-प्रसार की सम्भावना भी न रहेगी।

एक अथवा अनेक अधिकोषों द्वारा पत्र-मुद्रा-सञ्चालन : अब यह प्रश्न उठता है कि पत्र-मुद्रा का प्रसार एवं सञ्चालन एक अधिकोष द्वारा हो अथवा अनेक अधिकोषों द्वारा हो। ब्रिटेन के इतिहास से अथवा भारत के इतिहास से (जब प्रेसीडेन्सी बैंकों द्वारा पत्र-मुद्रा-सञ्चालन होता था) स्पष्ट है कि उसमें अनेक दोष थे। पहिले तो भिन्न-भिन्न अधिकोषों द्वारा सञ्चालित मुद्राएँ भिन्न-भिन्न प्रकार की थीं जिससे खरी या खोटी मुद्रा—समानता न होने से—नहीं पहिचानी जा सकती थी। दूसरे, किसकी मुद्रा ज्यादा माँगी जाती है इस सम्बन्ध में अधिकोषों में प्रतिस्पर्धा होती है जो जनहित की दृष्टि से हानिकर है। तीसरे, पत्र-चलन निधि प्रत्येक अधिकोष को अपने पास रखना पड़ता है जिससे निधि के लिए अधिक मुद्रा की आवश्यकता पड़ती है अर्थात् इसमें मितव्ययिता नहीं होती और न इनका राष्ट्रीय संकट काल में शीघ्र एकत्रीकरण ही हो सकता है। चौथे, भिन्न-भिन्न अधिकोषों द्वारा मुद्रा-सञ्चालन के नियन्त्रण एवं निरीक्षण में भी सुगमता नहीं होती क्योंकि भिन्न-भिन्न अधिकोषों की भिन्न-भिन्न सञ्चालन नीति होती है।

अतः इन सब त्रुटियों का निवारण करने की दृष्टि से पत्र-मुद्रा-सञ्चालन का अधिकार देश के केन्द्रीय अधिकोष को होना चाहिए। इससे पत्र-मुद्रा में सुगमता होती है, पत्र-मुद्रा-सञ्चालन का एकाधिकार प्राप्त होने से वह लाभ-प्रेरित नहीं होती, पत्र-चलन निधि में मितव्ययिता होते हुए वह एक स्थान पर ही रहती है तथा पत्र-मुद्रा में एकरूपता रहती है। इस चलन का नियन्त्रण एवं निरीक्षण भी, एक ही सञ्चालन नीति होने के कारण, सुगम होता है तथा ऐसी पत्र-मुद्रा चलन को सरकार की मान्यता भी प्राप्त होती है जिससे जनता का विश्वास अडिग रहता है। इन सब बातों को देखते हुए केन्द्रीय अधिकोष को ही पत्र-मुद्रा-सञ्चालन का एकाधिकार मिलना चाहिए।

पत्र-मुद्रा-चलन के तत्व

पत्र-मुद्रा-चलन की दो विभिन्न तत्त्व प्रणालियाँ हैं जो विभिन्न दलों द्वारा प्रकट की गई हैं :—पहिला चलित-मुद्रा तत्त्व (Currency Principle) तथा दूसरा अधिकोषण तत्त्व (Banking Principle)।

चलित-मुद्रा तत्व प्रणाली के समर्थकों का कथन है कि पत्र-मुद्रा-चलन को पूर्णतः स्वरक्षित करने के लिए पत्र-मुद्रा-चलन के मूल्य के बराबर ही धात्विक निधि रखा जाना चाहिए तथा पत्र-मुद्रा-चलन का प्रसार एवं संकोच धात्विक निधि की कमी अथवा अधिकता पर निर्भर रहना चाहिए क्योंकि पत्र-मुद्रा-चलन का मूल हेतु धातु-मुद्रा को विचलित करके मूल्यवान धातुओं की बचत करने का है। इस तत्व के अनुसार मुद्रा-चलन में लोच नहीं रहती अर्थात् पत्र-मुद्रा-चलन व्यापारिक आवश्यकतानुसार घटाया या बढ़ाया नहीं जा सकता बल्कि उसका प्रसार या संकोच धात्विक निधि की कमी या अधिकता पर निर्भर रहेगा ; न इस पद्धति में सोने या चाँदी की बचत ही हो सकती है किन्तु चलनाधिक्य से सुरक्षा तथा परिवर्तनशीलता रहती है। सारांश, इनमें मितव्ययिता तथा लोच का अभाव, ये दोष; एवं चलनाधिक्य से सुरक्षा तथा परिवर्तनशीलता, ये गुण हैं।

अधिकोषण तत्व के समर्थकों का कथन है कि विनिमय-माध्यम का कार्य अच्छे प्रकार से होने के लिए मुद्रा का आवश्यकतानुसार प्रसार तथा संकोच होना आवश्यक है अर्थात् चलन में लोच होना चाहिए। अतः इस लोच के लिए आवश्यक है कि अधिकोष, मुद्रा का कितना चलन है इस सम्बन्ध में स्वतन्त्र हो। किन्तु ऐसी परिस्थिति में पत्र-मुद्रा में परिवर्तनशीलता तथा सुव्यस्थित एवं सुरक्षित अधिकोष पद्धति का अवलम्बन होना भी आवश्यक है, क्योंकि लोच रखने का कार्य जनता तथा व्यापारी वर्ग के सम्पर्क में रहने के कारण अधिकोष ही अच्छी तरह कर सकता है। इस प्रणाली में चलनाधिक्य का भय नहीं रहता तथा धातु-मुद्रा के सब गुण इसमें रहते हैं एवं इसके उपयोग में सुवाह्यता, सुगमता और बनाने में सस्तापन रहता है।

इन दोनों प्रणालियों में गुण-दोष तो हैं ही क्योंकि चलित-मुद्रा तत्व प्रणाली में लोच का अभाव रहता है तो दूसरी प्रणाली में सुरक्षा कम होती है एवं चलनाधिक्य का भय रहता है। अतः पत्र-मुद्रा-चलन की अच्छी पद्धति वही है जिसमें इन दोनों का संगम हो, जिससे सुरक्षा तथा परिवर्तनशीलता के साथ पत्र-चलन में लोच हो। अतः अधिकोषण तत्व प्रणाली में धात्विक निधि अथवा अन्य साधनों का नियोजन करके सुरक्षा का गुण लाया जा सकता है।

अब हम पत्र-मुद्रा-चलन की विभिन्न पद्धतियाँ कौन-कौनसी हैं तथा उनमें सुव्यवस्था कैसे लाई जाती है, यह देखें।

पत्र-मुद्रा नियमन (Regulation) पद्धति

पत्र-मुद्रा-चलन की विधियों का अध्ययन करने के पूर्व पत्र-मुद्रा-चलन में

कौनसी विशेषताएँ अथवा कौनसे तत्त्व होने चाहिएँ यह हम देखलें। पत्र-मुद्रा-चलन प्रणाली वही अच्छी समझी जाती है जिसमें नीचे दिये हुए गुण होते हैं :—

१. लोच अथवा उदवनस्यता (Elasticity), २. मितव्ययिता (Economy), ३. परिवर्तनशीलता (Convertability) तथा ४. अधिक चलनाधिक्य से बचाव अथवा सुरक्षा (Security against Over-issue)।

किसी भी देश की मुद्रा में लोच होना आवश्यक है जिससे वह माँग के अनुसार बढ़ाई या घटाई जा सके। पत्र-मुद्रा का मुख्य हेतु मूल्यवान मुद्रा-धातु—सोना-चाँदी—की बचत करके उसे अन्य उपयोग मे लाने का है इसलिए पत्र-मुद्रा-चलन वही अच्छा है जिसमें कम से कम मात्रा में सोने या चाँदी की आवश्यकता पड़े। अतः उसमें मितव्ययिता (Economy) का गुण होना चाहिए। इसका मतलब यह नहीं कि पत्र-मुद्रा परिवर्तनीय न हो क्योंकि यदि माँगने पर उसके बदले में धातु-मुद्रा या सोना-चाँदी नहीं दिया जाता तो उसमें जनता विश्वास खो बैठती है इसलिए पत्र-मुद्रा-चलन में परिवर्तनशीलता भी होनी चाहिए। अतः इस परिवर्तनशीलता को रखने के लिए पत्र-मुद्रा-सञ्चालक को कुछ न कुछ सोना या चाँदी अपने निधि में रखना पड़ता है जिसके ऊपर सरकारी नियन्त्रण एवं निरीक्षण रहता है। पत्र-मुद्रा-चलन का दोष उसके चलनाधिक्य में है, यह हम ऊपर बता चुके हैं। इस चलनाधिक्य से समाज को तथा व्यापारी वर्ग को अनेक हानियाँ होती हैं अत : समता की दृष्टि से इससे बचने के उपाय भी होने चाहिएँ।

इस चलनाधिक्य से बचने के लिए तथा पत्र-मुद्रा की परिवर्तनशीलता कायम रखने के लिए सरकार धात्विक निधि को कानून द्वारा नियन्त्रित करती है तथा संकट काल में अथवा आवश्यकता के समय पत्र-मुद्रा-चलन का अधिकतम आँकड़ा निश्चित कर देती है। ये आँकड़े कालमान तथा परिस्थिति के अनुसार बदले जाते हैं। पत्र-मुद्रा-चलन-निधि रखने की भी विभिन्न पद्धतियाँ हैं।

पत्र-चलन की विभिन्न विधियाँ

१. निश्चित अधिकतम पत्र-चलन पद्धति (Fixed Maximum Note-issue) : इस पद्धति में कानून से पत्र-मुद्रा की अधिकतम मात्रा निश्चित करदी जाती है जिससे अधिक पत्र-मुद्रा का चलन नहीं हो सकता। इसमें धात्विक निधि (Metallic Reserve) का पत्र-मुद्रा-चलन से कोई

सम्बन्ध नहीं होता। धात्विक निधि को बढ़ा भी दिया जाय फिर भी निश्चित मात्रा से पत्र-मुद्रा का चलन कानून से नहीं किया जा सकता जब तक कानून में परिवर्तन न हो। इस प्रकार की पत्र-मुद्रा-चलन पद्धति इङ्गलैण्ड में १९३९ में थी। इस पद्धति में पत्र-मुद्रा-चलन में लोच नहीं रहती क्योंकि अधिकतम मात्रा आवश्यकता पड़ने पर तत्काल नहीं बढ़ाई जा सकती। दूसरे, यह अधिकतम मात्रा किसी भी समय विधान परिषद् द्वारा बढ़ाई जा सकने के कारण मुद्रा-प्रसार की अधिकता की सम्भावना के कारण मुद्रा-स्फीति भी हो सकती है। इसमें एक लाभ यह अवश्य है कि अधिकोष अथवा संचालक आवश्यकता के समय पत्र-मुद्रा-निधि का उपयोग करने में स्वतन्त्र रहता है।

२. साधारण निधि पद्धति (Simple Deposit Method): इसमें पत्र-मुद्रा-चलन के मूल्य के बराबर सोने या चाँदी में धात्विक निधि रखना आवश्यक है अर्थात् इस प्रकार की पत्र-मुद्रा प्रतिनिधिक होती है। इस पद्धति में लोच तथा मितव्ययिता का अभाव रहता है। इसमें सुरक्षितता तथा परिवर्तनशीलता, ये लाभ भी हैं, किन्तु यह पद्धति कहीं भी उपयोग में नहीं है।

३. न्यूनतम निधि पद्धति (Minimum Reserve Method): इस पद्धति में निधि में कितना सोना या चाँदी कम से कम होना चाहिए, यह विधान द्वारा निश्चित कर दिया जाता है। इससे कम निधि नहीं हो सकता, चाहे पत्र-मुद्रा चलन में कितनी ही क्यों न बढ़े। इस पद्धति में लोच, मितव्ययिता तथा परिवर्तनशीलता, ये गुण हैं। यह पद्धति भी आजकल प्रयोग में नहीं है।

४. निश्चित प्रात्ययिक पत्र-मुद्रा-चलन पद्धति (Fixed Fiduciary Note-issue): इसको "अकोषीय निश्चित पत्र-मुद्रा-प्रसार पद्धति भी कहा जा सकता है। इस पद्धति के अनुसार धात्विक निधि न रखते हुए इस निश्चित मात्रा में पत्र-मुद्रा का चलन हो सकता है परन्तु उससे अधिक चलन होने पर सोना या चाँदी में धात्विक-निधि रखना अनिवार्य है। इसका अवलम्बन इङ्गलैण्ड में बैंक चार्टर एक्ट १८४४ के अनुसार हुआ था। इङ्गलैण्ड में यह आँकड़ा सन् १९२८ में १९,७५०,००० पौण्ड था। यही आँकड़ा अब २७५,०००,००० पौण्ड है। इसका यह मतलब नहीं कि धात्विक निधि इस पद्धति में नहीं रखा जाता किन्तु धात्विक निधि जितने मूल्य का होता है उतना पत्र-मुद्रा-प्रसार तो अधिकोष कर ही सकता है। मर्यादा केवल उस पत्र-मुद्रा-चलन के लिए है जो अरक्षित है अथवा जिसके लिए धात्विक निधि नहीं है।

ऐसी पत्र-मुद्रा का चलन निश्चित मर्यादा से बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि जितने मूल्य की पत्र-मुद्रा की वृद्धि चलन में हो उतने ही मूल्य से धात्विक निधि में वृद्धि की जानी चाहिए। इसलिए इस पद्धति में न तो मितव्ययिता होती है और न उदवनम्यता अथवा लोच रहती है, तथा सोना-चाँदी निधि से कम हो जाने पर उतने मूल्य की पत्र-मुद्रा का संकुचन करना आवश्यक हो जाता है चाहे माँग अधिक चलन के लिए क्यों न हो। अतः इस पद्धति की कार्यप्रणाली में सुगमता का भी अभाव है। इन दोषों का निवारण तभी हो सकता है जब निधिविहीन अथवा अरक्षित पत्र-मुद्रा-चलन की मर्यादा का आँकड़ा बहुत अधिक हो।

५. आंशिक निधि पद्धति अथवा प्रमाणबद्ध निधि पद्धति (Proportional Reserve Method) : इस पद्धति के अनुसार पत्र-मुद्रा-चलन तथा धात्विक निधि का अनुपात निश्चित कर दिया जाता है, कि कितनी धात्विक निधि अधिकोप में होनी चाहिए। यह निधि सरकार की अनुमति से कम या अधिक की जा सकती है। इसका अवलम्बन अमेरिका, इङ्गलैण्ड, भारत आदि देशों में है। शेष पत्र-मुद्रा-चलन का भाग उतने ही मूल्यों के विनियोगों (Gilt-edged Securities or Investments) द्वारा सुरक्षित किया जाता है जिसको प्रात्ययिक अथवा अरक्षित भाग कहते हैं। इस पद्धति में लोच, मितव्ययिता तथा चलनाधिक्य से सुरक्षा होती है तथा परिवर्तनशीलता भी रहती है इसीलिए इस पद्धति का अवलम्बन सब देशों में है। कीन्स के मतानुसार इस पद्धति का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें निश्चित मूल्य का सोना-चाँदी व्यर्थ ही निधि में रखा जाता है जो पत्र-मुद्रा परिवर्तन के लिए भी विशेष आवश्यक नहीं होता।

६. आंशिक अनुपात निधि पद्धति (Percentage Method) : यह पद्धति उपर्युक्त (५) पद्धति में कुछ सुधार करके प्रयोग में आई। इसके अनुसार निधि का कुछ अंश देश में सोना-चाँदी में रखा जाता है तथा कुछ विदेशी अधिकोषों की हुण्डियों अथवा विदेशी मुद्राओं मे रखा जा सकता है जिससे सोने या चाँदी में बचत होती है एवं पाँचवीं पद्धति के भी लाभ प्राप्त होते हैं। भारत में धात्विक निधि का परिमाण ४०% है जिसका $\frac{१}{२}$ भाग विदेशों में रखा जाता है।

मुद्रा-चलन पद्धति वही अच्छी होती है जिसमें लोच, मितव्ययिता, परिवर्तनशीलता तथा चलनाधिक्य से सुरक्षा हो। सबसे अच्छी पद्धति तो यह है

कि देश के केन्द्रीय अधिकोष के हाथ में इसका चलन सौंप दिया जाय तथा चलन की कमी या अधिकता तथा धात्विक निधि का नियोजन वह अपनी इच्छानुसार करे। हाँ, जनता की सुरक्षा तथा परिवर्तनशीलता की दृष्टि से सरकार उस अधिकोष पर दो मर्यादाएं लगादे—एक तो न्यूनतम धात्विक निधि कितनी रखी जाय, तथा दूसरे, अधिक से अधिक कितने मूल्य की पत्र-मुद्रा का चलन हो। इन दोनों मर्यादाओं में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किये जायँ क्योंकि किसी भी पद्धति का अवलम्बन उस देश की जनता की प्रकृति, सोना या चाँदी की उपलब्धता तथा मुद्रा-विपणि (Money Market) की परिस्थिति पर निर्भर रहता है।

उपर्युक्त पद्धतियों को देखने से यह स्पष्ट होता है कि पहली, दूसरी तथा चौथी पद्धति चलित-मुद्रा तत्व पर आधारित है तथा तीसरी, पाँचवीं एवं छठी पद्धति अधिकोषण तत्व पर आधारित है।

मुद्रा का विकास

इस अध्याय में तथा पिछले अध्यायों में हमने मुद्रा का किस प्रकार विकास हुआ इसका सूक्ष्म अध्ययन किया जिसका सारांश नीचे दिया जाता है :—

१. प्रारम्भिक अवस्था में विनिमय की आवश्यकता नहीं थी, किन्तु जब आवश्यकता प्रतीत होने लगी उस समय वस्तु-विनिमय से काम होने लगा।

२. वस्तु-विनिमय की कठिनाइयों को दूर करने के लिए माध्यम का उपयोग होने लगा जिसे हम मुद्रा कह सकते हैं। क्रमशः विभिन्न वस्तुएँ मुद्रा के रूप में उपयोग में आईं और कुछ न कुछ कठिनाई के कारण उनका स्थान धातु-मुद्रा ने ग्रहण किया।

३. धातु-मुद्रा-संचालन कार्य में सुरक्षितता लाने के लिए सरकार का प्रवेश हुआ तथा आगे चलकर पत्र-मुद्रा तथा अधिकोष-मुद्रा (Bank Money) का आवश्यकतानुसार निर्माण एवं विकास हुआ जिससे मुद्रा में लोच आई।

४. सरकार के हस्तक्षेप के उपरान्त क्रमशः अधिकाधिक सुरक्षा लाने की दृष्टि से मुद्रा-संचालन का कार्य सरकार के पूर्ण निरीक्षण एवं नियन्त्रण में होने लगा।

मुद्रा-विकास की ये चार सीढ़ियाँ (Stages) हैं।

प्रश्न

१. अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा के चलनाधिक्य से कौनसे परिणाम होते हैं ? उनको दूर कैसे किया जा सकता है ?

२. पत्र-मुद्रा-चलन की निम्नलिखित पद्धतियों के बारे में आप क्या जानते हैं, गुण-दोष सहित लिखिये :—

(अ) प्रतिनिधिक पत्र-मुद्रा।

(ब) आंशिक निधि पद्धति।

३. पत्र-मुद्रा की परिभाषा देकर उसका वर्गीकरण कीजिये तथा पत्र-मुद्रा से कौनसे लाभालाभ हैं, लिखिये।

४. न्यूनतम निधि पद्धति तथा अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा-प्रसार किसे कहते हैं ? गुण-दोष-विवेचन सहित लिखिये।

५. पत्र-मुद्रा-चलन को सुव्यवस्थित करने की भिन्न-भिन्न पद्धतियों का वर्णन गुण-दोष सहित लिखिये।

६. टिप्पणियाँ दीजिये :—

(क) चलित-मुद्रा तत्व तथा अधिकोपण तत्व।

(ख) सरकारी पत्र-चलन तथा अधिकोप-पत्र-चलन।

(ग) मुद्रा-विकास की सीढ़ियाँ।

अध्याय ६

मुद्रा का मूल्य तथा मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त

मुद्रा का मूल्य (Value of Money)

जिस प्रकार गेहूँ के मूल्य से हम यह समझते हैं कि गेहूँ के बदले में दूसरी वस्तु कितनी मिल सकती है, उसी प्रकार मुद्रा के मूल्य से यही तात्पर्य है कि विनिमय में हम एक मुद्रा देकर कितनी वस्तुओं पर अधिकार प्राप्त कर सकते हैं, अर्थात् मुद्रा का मूल्य उसकी क्रयशक्ति है जो हमेशा स्थिर नहीं रहती, अपितु बदलती रहती है। उदाहरणार्थ, कभी हम १ रुपये के ४ सेर गेहूँ लेते थे किन्तु आज हम दो सेर लेते हैं अर्थात् मुद्रा की क्रयशक्ति घट गई है या मुद्रा का मूल्य कम हो गया है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि जब मुद्रा का मूल्य गिरता है उस समय वस्तुओं की कीमतें बढ़ती हैं अथवा जब मुद्रा का मूल्य बढ़ता है उस समय वस्तुओं की कीमतें घटती हैं। मुद्रा के मूल्य की कमी अथवा बढ़ती का माप वस्तुओं की कीमतों के उतार-चढ़ाव से किया जाता है और यह इसीलिए सम्भव है कि मुद्रा विनिमय-माध्यम का कार्य करती है तथा वस्तुओं की कीमतें मुद्रा में प्रकट की जाती हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि मुद्रा के मूल्य तथा वस्तुओं की कीमतों का परस्पर-विरोधी सम्बन्ध है।

मुद्रा के मूल्य में घट-बढ़ होने का कारण क्या है, तथा किन बातों पर मुद्रा का मूल्य निर्भर रहता है, यह प्रश्न हमारे सामने आता है। मुद्रा के मूल्य में कमी अथवा बढ़ती का कारण मुद्रा की माँग तथा उसकी पूर्ति पर—अन्य वस्तुओं की कीमतों की तरह अथवा माँग तथा पूर्ति के नियम के अनुसार—निर्भर रहता है। उदाहरणार्थ, किसी देश में उत्पादन स्थिर है तथा मुद्रा का परिमाण (Quantity) अधिक है तो इससे यह स्पष्ट है कि जनता के पास क्रयशक्ति अधिक है और वस्तुएँ कम, जिसका परिणाम यह होगा कि उसी वस्तु को खरीदने के लिए लोग अधिक कीमत देने लगेंगे। अर्थात् इस

दशा में मुद्रा का मूल्य गिर जायगा या वस्तुओं की कीमतें चढ़ जायँगी। ठीक इसी प्रकार यदि उत्पादन स्थिर है और मुद्रा का परिमाण घटा दिया जाता है तो मुद्रा का मूल्य बढ़ जायगा तथा वस्तुओं की कीमतें घट जायँगी। इस प्रकार मुद्रा का मूल्य मुद्रा के परिमाण पर, तथा माँग पर निर्भर रहता है। यह मुद्रा का मूल्य ठीक उसी अनुपात में कम या अधिक होता है जिस मात्रा में मुद्रा में वृद्धि अथवा कमी की जाय। उदाहरणार्थ, मुद्रा की संख्या एक समय १०० रुपये है तथा उस मुद्रा के द्वारा विनिमय होनेवाली वस्तुओं की संख्या ५० है तो उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार एक वस्तु की कीमत २ रुपये होगी, किन्तु यदि वस्तुओं का परिमाण अथवा उत्पादन स्थिर रहता है और मुद्रा का परिमाण १०० रुपये से २०० रुपये कर दिया जाता है तो प्रत्येक वस्तु की कीमत २०० रु० ÷ ५० = ४ रु० होगी अर्थात् मुद्रा का मूल्य कम होगा और वस्तुओं की कीमतें चढ़ जायँगी। इसके विपरीत यदि मुद्रा का परिमाण १०० रुपये से घटकर ५० रुपये हो जाता है तो प्रत्येक वस्तु की कीमत ५० रु० ÷ ५० = १ रु० हो जायगी अर्थात् वस्तुओं की कीमतें कम होंगी और मुद्रा का मूल्य अथवा मुद्रा की क्रयशक्ति बढ़ जायगी। अतः यह स्पष्ट है कि मुद्रा के परिमाण में जिस अनुपात में कमी या बढ़ती की जायगी, उसी अनुपात में मुद्रा का मूल्य अधिक अथवा कम होगा तथा वस्तुओं की कीमतें कम या अधिक होंगी। मुद्रा के परिमाण का उसके मूल्य से सीधा सम्बन्ध है तथा वस्तुओं की कीमतों से विरोधी सम्बन्ध है। किन्तु यह तभी होगा जब कि उत्पादन में अथवा विनिमय की वस्तुओं में किसी प्रकार की कमी या अधिकता न हो। इसी को मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त (Quantity Theory of Money) कहते हैं।

मुद्रा की माँग तथा पूर्ति

हमने ऊपर बताया कि मुद्रा की क्रयशक्ति भी उसकी माँग तथा पूर्ति पर निर्भर है। किन्तु यह माँग कैसे होती है तथा उसकी पूर्ति कौन एवम् कैसे करता है, अब हम यह देखेंगे।

मुद्रा की माँग (Demand of Money) : प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए क्रयशक्ति अथवा मुद्रा की आवश्यकता होती है और किसी समाज अथवा देश में किसी एक समय में विनिमय की निश्चित मात्रा में वस्तुएँ होती हैं। अतः इन वस्तुओं के विनिमय के लिए कितनी मुद्रा की आवश्यकता होगी, इस पर मुद्रा की माँग निर्भर है।

अर्थात् किसी निश्चित अवधि में कितनी वस्तुएँ अथवा सेवाएँ विनिमय के लिए बाजार में उपलब्ध हैं, इस पर मुद्रा की माँग निर्भर रहेगी।

मुद्रा की पूर्ति (Supply of Money) : मुद्रा की पूर्ति, जो मुद्रा चलन में है उससे प्रकट होती है और चूँकि मुद्रा एक दिन में कई बार विनिमय में हस्तान्तरित होती है अतः मुद्रा की पूर्ति किसी समय में मुद्रा-परिमाण-गति अथवा भ्रमण-वेग से हम जान सकते हैं। उदाहरणार्थ, किसी समय चलन में १०० रुपये हैं तो मुद्रा-चलन १०० है। अब मान लीजिये ये रुपये प्रतिदिन १० बार हस्तान्तरित होते हैं तो १०० रुपयों में से प्रत्येक रुपया १० रुपयों का काम करता है। (इस हस्तान्तरण की क्रिया को मुद्रा की गति अथवा भ्रमण-वेग कहते हैं।) अतः १०० रुपये के द्वारा १००×१० = १००० रुपये के विनिमय का कार्य होता है अतः उस समय मुद्रा का कुल परिमाण १००० रुपये है अथवा मुद्रा की पूर्ति १००० है। मुद्रा की पूर्ति देश में सरकार द्वारा की जाती है तथा उसकी भ्रमण-गति पर निर्भर रहती है।

मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त

मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त के अनुसार स्थिर दशा में मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन होने से उसी अनुपात में मुद्रा के मूल्य में प्रत्यक्ष अथवा सीधा तथा वस्तुओं की कीमतों में विरोधी परिवर्तन होता है।[1] इसका तात्पर्य यह है कि मुद्रा-परिमाण को यदि दुगुना कर दिया जाय तो मुद्रा की क्रयशक्ति आधी हो जायगी तथा वस्तुओं की कीमतें दुगुनी हो जायँगी, उसी प्रकार मुद्रा का परिमाण आधा कर दिया जाय तो मुद्रा की क्रयशक्ति दुगुनी हो जायगी तथा वस्तुओं की कीमतें आधी हो जायँगी। किन्तु यह तभी सम्भव है जब परिस्थिति स्थिर रहे और उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन न हो। परन्तु यह आज के परिवर्तनशील समाज में सम्भव नहीं है अतः इस सिद्धान्त को पूर्णतः लागू करने के लिए कुछ सुधारों की आवश्यकता है। इस सिद्धान्त के सरल रूप का समीकरण नीचे दिया है :—

$$\text{कीमतें} = \frac{\text{मुद्रा-परिमाण}}{\text{व्यापार अथवा उत्पादन}} \quad \left[P = \frac{M}{T} \text{ or } PT = M \right]$$

अथवा वस्तुओं की कीमतें × उत्पादन = मुद्रा-परिमाण।

---

[1] *"With every change in the supply of money the value of money varies directly proportionately and price-level varies inversely proportionately, other things being equal."*

हमने ऊपर बताया है कि परिस्थिति में परिवर्तन नहीं होना चाहिए। अतः वह कौनसी परिस्थिति है अथवा किस अवस्था में यह सिद्धान्त सत्य होगा ? वह परिस्थिति निम्नलिखित है :—

१. उपयोग में केवल धातु-मुद्रा ही है तथा प्रत्येक मुद्रा से केवल एक ही विनिमय किया जाता है ; साख का उपयोग नहीं होता।

२. मुद्रा केवल विनिमय के कार्य में ही उपयोग में आती है तथा उसका सञ्चय आदि नहीं होता।

३. वस्तु-विनिमय प्रचार में नहीं है अथवा प्रत्यक्ष विनिमय द्वारा वस्तुएँ न खरीदी जाती हैं और न बेची जाती हैं।

४. उत्पादन-परिमाण में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता।

किन्तु उपर्युक्त बातें, जिन्हें हम ग्राह्य मानते हैं, परिवर्तनशील हैं तथा वास्तव में विनिमय के लिए केवल धातु-मुद्रा का ही उपयोग न होते हुए अधिकोषों द्वारा चलाई हुई पत्र-मुद्रा तथा साख का भी उपयोग होता है। उसी प्रकार एक मुद्रा से एक ही विनिमय कार्य न होते हुए अनेक विनिमय कार्य होते हैं। इस अनेक विनिमय कार्य होने को हम मुद्रा की गति (Velocity of Money) अथवा मुद्रा का भ्रमण-वेग कहेंगे। इस गति में भी परिवर्तन होता रहता है तथा उसी प्रकार उत्पादन भी स्थिर नहीं रहता और वस्तु-विनिमय के द्वारा विनिमय का हमेशा थोड़ा-बहुत क्रय-विक्रय होता है। अतः इन सब चीजों के लिए छूट देना आवश्यक है जिससे कि इस सिद्धान्त की सत्यता आज की परिस्थिति में भी प्रमाणित हो सके। इसलिए हमको वस्तुओं के विनिमय का वेग, धातु-मुद्रा का भ्रमण-वेग, साख-पत्रों का उपयोग एवम् भ्रमण-वेग तथा वस्तु-विनिमय, इनके लिए छूट देनी पड़ेगी। अतः इस अवस्था में इस सिद्धान्त को हम निम्नलिखित परिभाषा में व्यक्त करेंगे :—वस्तुओं की कीमतों का स्तर मुद्रा-परिमाण एवम् गति के समान अनुपात से तथा विनिमय-साध्य वस्तुओं के विरुद्ध अनुपात से बदलता है, अथवा—मुद्रा के परिमाण एवम् भ्रमण-वेग के साथ कीमतों का सीधा सम्बन्ध होता है तथा मुद्रा के मूल्य के साथ विरोधी सम्बन्ध होता है। अर्थात् मुद्रा-परिमाण में अथवा उसके भ्रमण-वेग में वृद्धि होने से वस्तुओं की कीमतें बढ़ जायँगी तथा मुद्रा का मूल्य अथवा क्रयशक्ति घट जायगी एवम् मुद्रा-परिमाण अथवा उसके भ्रमण-वेग में कमी आने से उसी अनुपात में वस्तुओं की कीमतें गिर जायँगी तथा मुद्रा की क्रयशक्ति बढ़ जायगी। इस संशोधित सिद्धान्त का समीकरण इस प्रकार होगा :—

मुद्रा × गति-सामर्थ्य + साख-मुद्रा × गति-सामर्थ्य
= व्यापार (उत्पादन) × कीमतें

अथवा

$$\text{कीमतें} = \frac{\text{मुद्रा} \times \text{गति-सामर्थ्य} + \text{साख-मुद्रा} \times \text{गति-सामर्थ्य}}{\text{व्यापार (उत्पादन)}}$$

मुद्रा-मूल्य की विशेषता

इस प्रकार परिमाण के परिवर्तन के साथ उसी अनुपात में कीमतों की स्तरों में परिवर्तन होने का मुख्य कारण यह है कि अन्य वस्तुओं की अपेक्षा मुद्रा में विशेषता है। वह विशेषता यह है कि अन्य वस्तुओं की कीमतें उसकी पूर्ति के परिमाण के अनुपात में नहीं बदलतीं क्योंकि अन्य वस्तुएँ उपभोग के लिए होती हैं तथा उनकी माँग में लोच होती है। किन्तु मुद्रा की माँग विनिमय कार्य पर निर्भर है, जो उत्पादन में परिवर्तन हुए बिना नहीं बदलती अतः किसी विशिष्ट परिस्थिति में मुद्रा की माँग की लोच समानुपात (Unity) होती है। यही मुद्रा की एक विशेषता है।

सिद्धान्त की आलोचना

इस सिद्धान्त के विरुद्ध अर्थशास्त्रियों ने अनेक आक्षेप किये हैं। सबसे पहला आक्षेप यह है कि इस सिद्धान्त में कोई विशेषता नहीं है बल्कि यह माँग एवं पूर्ति नियम के विवेचन का सरल ढंग है। किन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि इसमें मुद्रा के परिमाण में कमी या अधिकता होने से क्या परिणाम होते हैं, इसका विवेचन है जिससे हम कीमतों पर, मुद्रा-परिमाण में परिवर्तन करके, नियन्त्रण कर सकें।

दूसरा आक्षेप है कि यह सिद्धान्त माँग एवं पूर्ति नियम पर आधारित स्वयंसिद्ध सत्य है जिसको बहुत महत्त्व दिया गया है किन्तु स्वयंसिद्ध सत्य होने के अतिरिक्त इस सिद्धान्त के द्वारा कीमतों का समायोजन करने में इससे प्रत्यक्ष सहायता मिलती है अतः यह सिद्धान्त उपयोगी है, जिसका अध्ययन मुद्रा एवं अधिकोष के ठीक अध्ययन के लिए आवश्यक है।

तीसरा आक्षेप है कि यह सिद्धान्त काल्पनिक एवम् अपूर्ण है क्योंकि इसमें हम किसी भी समय मुद्रा-चलन के परिमाण का ठीक-ठीक आँकड़ा नहीं मालूम कर सकते जो केवल अनुमान पर निर्भर है। इतना ही नहीं, अपितु जिन बातों को हम स्थिर मानते हैं वे वास्तविक सृष्टि में कभी स्थिर नहीं रहतीं अतः उनका ठीक नाप नहीं किया जा सकता।

चौथा आक्षेप प्रो० कीन्स का है। उनका कथन है कि आजकल विनिमय के व्यवहार अधिकतर साख-पत्रों द्वारा होते हैं जिनका धातुनिधि से बहुत कम सम्बन्ध रहता है और मुद्रा द्वारा होने वाले अधिकांश व्यवहार औद्योगिक, व्यापारिक अथवा आर्थिक (Financial) होते हैं तथा बहुत कम विनिमय इस प्रकार का होता है जिसे हम 'व्यापार' (T) शब्द-प्रयोग के द्वारा समीकरण में दिखाते हैं। अतः मुद्रा-परिमाण-समीकरण द्वारा मुद्रा की क्रयशक्ति का माप न होते हुए रोक-व्यवहार का मान (Cash Transaction Standard) होता है।

पाँचवाँ आक्षेप है कि मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त, कीमतों के स्तर में किस प्रकार परिवर्तन होता है यह नहीं बताता और न इसी का स्पष्टीकरण करता है कि व्यापार-चक्र (Trade Cycles) में मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन होते हुए भी कीमतें क्यों गिरती हैं अथवा क्यों चढ़ती हैं।

छठा आक्षेप है कि इस सिद्धान्त में मुद्रा की माँग की अपेक्षा पूर्ति पर ही अधिक जोर दिया गया है जिसका प्रभाव कीमतों अथवा क्रयशक्ति पर होता ही है। किन्तु हम देख चुके हैं कि किसी विशिष्ट परिस्थिति में मुद्रा की माँग की लोच समानुपात होती है—अर्थात् मुद्रा की माँग न घटती है न बढ़ती है। किन्तु मुद्रा की पूर्ति केवल सरकारी चलन पर निर्भर न रहते हुए उस पर सोने या चाँदी के अधिक उत्पादन का अथवा नई खानों के अन्वेषण (Discovery) का प्रभाव पड़ता है इसलिए पूर्ति पर ही अधिक जोर दिया गया है।

सातवाँ आक्षेप है कि किसी विशिष्ट देश की कीमतों की तेजी अथवा मन्दी के कारणों का विवेचन इस सिद्धान्त द्वारा नहीं हो सकता तथा उसके लिए अन्य देशों की कीमतों का सन्दर्भ लेना आवश्यक है।

किन्तु इन सब आक्षेपों के होते हुए भी मौद्रिक जगत् (Monetary World) में इस सिद्धान्त की मान्यता स्वीकृत की गई है। प्रो० फिशर ने अपनी डॉलर-स्थायित्व-मान-योजना (Compensated Dollar Scheme) में इस सिद्धान्त की कितनी सहायता हुई यह सिद्ध किया है। प्रो० कीन्स भी यह मानते हैं कि संख्यात्मक जाँच (Quantitative Enquiries) के लिए मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त के समीकरण की सहायता से अधिक उन्नति की जा सकती है क्योंकि समीकरण में दिया हुआ 'MV' (मुद्रा × भ्रमण-वेग) अधिकोषों की भुगतान (Bank-Clearings) से साम्य रखता है, तथा 'M' (मुद्रा) अधिकोषों में जो रकम जमा (Deposit)

की जाती है, उससे साम्य रखता है। इन दोनों के आँकड़े आसानी से उपलब्ध हैं तथा मुद्रा के आँकड़ों से उसका भ्रमण-वेग 'V' भी निकाला जा सकता है। अतः मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त में कुछ सत्य का अंश होने से यह महत्वपूर्ण है चूंकि यह सिद्धान्त भी अन्य अर्थशास्त्र के नियमों की भाँति ही, किसी विशिष्ट परिस्थिति में कौनसी प्रवृत्ति कार्य करेगी, यह स्पष्ट करता है।

मूल्य-निर्देशांक (Index Numbers)

वस्तुओं के मूल्य-स्तर में जो परिवर्तन होता है उसको ठीक-ठीक नापने की कोई भी विधि नहीं है। हाँ, किन्तु मूल्य-स्तर में किस परिमाण में परिवर्तन होते हैं इसका सामान्य अनुमान एक पद्धति द्वारा लगाया जाता है जिसको सांकेतिक संख्याएँ अथवा निर्देशाङ्क कहते हैं। इन पद्धति के अनुसार हम किसी पूर्व काल के मूल्य-स्तरों की तुलना उत्तर काल के मूल्य-स्तरों से करते हैं जिसमें भिन्न वस्तुओं के समूह बनाकर उनके विभिन्न काल के मूल्यों की तुलना करते हैं। हम यह तो देखते ही हैं कि किसी भी समय में सब वस्तुओं के मूल्य न तो एक साथ चढ़ते है और न एक साथ गिरते ही हैं किन्तु कुछ वस्तुओं के मूल्य गिरते हैं तथा कुछ वस्तुओं के मूल्य चढ़ते हैं। अतः किसी भी समय इन मूल्यों की हम दूसरे काल के मूल्यों से तुलना करें तो हमको यह दिखाई देगा कि ऐसी अवस्था में भी मूल्यों का सामान्य-स्तर एक ही दिशा में होगा, अर्थात् या तो सामान्य-स्तर में चढ़ाव होगा या उतार। इस मूल्य-स्तर के चढ़ाव-उतार के नापने की क्रिया को ही मूल्य-निर्देशाङ्क अथवा सांकेतिक संख्याएँ कहते हैं।

मूल्य-निर्देशांक बनाने की विधियाँ

मूल्य-निर्देशाङ्क बनाने की दो प्रमुख विधियाँ हैं :—

(क) सामान्य निर्देशाङ्क (General Index Numbers)।

(ख) भारशील निर्देशाङ्क (Weighted Index Numbers)।

सामान्य निर्देशाङ्क बनाने के लिए हमें किस वर्ष की कीमतों की तुलना करना है, यह निश्चय करना होगा। यह वर्ष, जिसको आधार-वर्ष (Base Year) कहते हैं, ऐसा हो जिसमें वस्तु-मूल्यों में अधिक चढ़ाव-उतार न हुए हों, न कोई ऐसी घटनाएँ घटी हों जिनसे कि आर्थिक स्थिति पर गहरा प्रभाव पड़ा हो। इस वर्ष को निश्चित करने के उपरान्त निर्देशाङ्क में किन-किन वस्तुओं के मूल्यों का समावेश हो यह निश्चित करना होगा—अगर हम जीवन-स्तर-मान निर्देशाङ्क (Cost of Living Index) बना रहे हैं तो उसमें

ऐसी ही वस्तुओं का समावेश करना होगा जो हमारे जीवन से सम्बन्धित हों—अर्थात् ये वस्तुएँ निर्देशाङ्क के उद्देश्य पर निर्भर रहेंगी। उसी प्रकार मूल्य थोक (Wholesale) हों अथवा फुटकर (Retail) हों यह भी निर्देशाङ्क पर निर्भर रहेगा। यह सब निश्चय कर लेने के बाद हम आधार-वर्ष की विभिन्न वस्तुओं के मूल्यों को १०० में परिणत करेंगे और इस प्रकार की परिणति के उपरान्त उनके योग को वस्तुओं की संख्या से भाग देने के बाद जो भागफल आयगा वह आधार-वर्ष का निर्देशाङ्क होगा। इसी प्रकार जिस वर्ष के मूल्यों की तुलना कर रहे हैं उसको भी आधार-वर्ष के मूल्यों की तुलना में १०० में परिणत करके उनके योग को वस्तुओं की संख्या से भाग देने के उपरान्त जो भागफल आयगा वह उस वर्ष का निर्देशाङ्क होगा। अब दोनों निर्देशाङ्कों की तुलना से हम यह समझ जायँगे कि मूल्यों के सामान्य-स्तर में किस प्रतिशत में चढ़ाव या उतार हुआ है। उदाहरणार्थ, मान लीजिये कि १९३९ तथा १९४८ के मूल्य-स्तरों की तुलना करनी है और १९३९ में दूध, शकर, चाय तथा कोयले की कीमतें क्रमशः ४ आने सेर, ३ आने सेर, १ रु० पौंड, तथा १ आने सेर हैं और १९४८ में इन्हीं वस्तुओं के मूल्य क्रमशः १ रु० सेर, ७½ आने सेर, २ रु० पौंड तथा ३ आने सेर हैं तो इनके निर्देशाङ्क निम्न प्रकार होंगे:—

वस्तुएँ*	मूल्य-स्तर १९३९		मूल्य-स्तर १९४८	
	वास्तविक मूल्य	निर्देशाङ्क	तविक मूल्य	निर्देशाङ्क
१. दूध	४ आने सेर	१००	१ रु० सेर	४००
२. शकर	३ आने सेर	१००	७½ आने सेर	२५०
३. चाय	१ रु० पौंड	१००	२ रु० पौंड	२००
४. कोयला	१ आने सेर	१००	३ आने सेर	३००
योग		४०० ÷ ४		११५० ÷ ४
मूल्य-स्तर निर्देशाङ्क		१००		२८७½

* वस्तुएँ तथा उनके मूल्य काल्पनिक हैं।

अर्थात् प्रत्येक वस्तु की तुलना करें तो दूध की कीमत ४ गुनी, शकर की २½ गुनी, चाय की दुगुनी तथा कोयले की तिगुनी हो गई है अतः १९२९ के १०० की तुलना में इनके निर्देशाङ्क क्रमशः १०० × ४, १०० × २½, १०० × २ तथा १०० × ३ अथवा ४००, २५०, २०० तथा ३०० होंगे एवम् योग ११५० होगा। १९२९ में कुल योग ४०० था तो १९४८ में ११५० है। इनको ४ से विभाजित करने के बाद मूल्य-स्तर निर्देशाङ्क क्रमशः १०० और २८७½ आते हैं अर्थात् १९२९ की अपेक्षा मूल्य-स्तर बढ़ गया है तथा यह वृद्धि २८७½ प्रतिशत है।

भारशील निर्देशाङ्क : यह निर्देशाङ्क बनाने की दूसरी पद्धति है जिसके अनुसार वस्तुओं के महत्त्व के अनुसार उनको कुछ भार दिया जाता है क्योंकि जिस कार्य के लिए निर्देशाङ्क तैयार किये जाते हैं उनमें सब वस्तुओं का महत्त्व एकसा न होते हुए, कुछ वस्तुओं का महत्त्व अधिक एवम् कुछ का कम होता है। जिन वस्तुओं को अधिक महत्त्व दिया जाता है उनकी कीमतों में परिवर्तन होने से जीवनमान में भी परिवर्तन होने की सम्भावना रहती है क्योंकि आय का अधिक भाग उन पर खर्च होता है। किन्तु जो वस्तुएँ कम महत्त्वपूर्ण होती हैं उन पर कम खर्च होता है तथा उनकी कीमतों में परिवर्तन होने से जीवनमान में परिवर्तन होने की सम्भावना कम होती है। प्रत्येक वस्तु को यह भार उसी परिमाण में दिया जाना चाहिए, जितना उपभोग में उसका वास्तव में महत्त्व है। अब हम पहले उदाहरण को ही भारशील निर्देशाङ्क में परिवर्तन करेंगे। मान लीजिये[1] कि दूध, शकर, चाय तथा कोयले का क्रमशः ४, ३, २ और १ महत्त्व की दृष्टि से भार है। १९२९ की कीमतों को हम पूर्ववत् १०० में परिणत करके, उनको उनके भार से गुणा करेंगे, फिर जो योग आयगा उसका मध्यम मान (Average Mean) वस्तुओं के कुल भार से विभाजित करके निकालेंगे। यही मध्यम मान १९२९ का भारशील निर्देशाङ्क होगा। इसी प्रकार १९४८ के मूल्यों को भी हम १९२९ के मूल्यों की तुलना करते हुए १०० में परिणत करेंगे तथा उन कीमतों को उनके भार से गुणा करके वस्तुओं के कुल भार से विभाजित करेंगे। भागफल हमारा मध्यम मान होगा जो १९४८ के मूल्यों का भारशील निर्देशाङ्क होगा। अब दोनों निर्देशाङ्कों की तुलना से हमको यह मालूम हो जायगा कि कितने प्रतिशत मूल्य-स्तर में वृद्धि या कमी हुई है। उदाहरणार्थ, पहले उदाहरण को ही भारशील निर्देशाङ्क में परिणत करेंगे :—

---

[1] यह उदाहरण काल्पनिक है।

वस्तुएँ	१९३९ का मूल्य-स्तर			१९४८ का मूल्य-स्तर		
	वास्तविक मूल्य	भार	भारशील मूल्य	वास्तविक मूल्य	आधारवर्ष से तुलनात्मक मूल्य	भारशील परिवर्तित मूल्य
दूध	४ आने सेर	४	४००	१ रु० सेर	४००	×४ = १६००
शक्कर	३ आने सेर	३	३००	७½ आ० सेर	२५०	×३ = ७५०
चाय	१ रु० पौंड	२	२००	२ रु० पौंड	२००	×२ = ४००
कोयला	१ आने सेर	१	१००	३ आने सेर	३००	×१ = ३००
योग		१०	१००० ÷१०			३०५० ÷१०
निर्देशाङ्क	(मध्यम मान)		१००			३०५

उपर्युक्त भारशील निर्देशाङ्कों से यह स्पष्ट होता है कि १९३९ तथा १९४८ के निर्देशाङ्क १०० तथा ३०५ हैं। अतः तुलनात्मक दृष्टि से १९४८ के मूल्य-स्तर में २०५ प्रतिशत वृद्धि हुई है।

यदि दोनों पद्धति के निर्देशाङ्कों की तुलना करें तो सामान्य निर्देशाङ्क और भारशील निर्देशाङ्क से प्रदर्शित मूल्य-वृद्धि में बहुत अधिक अन्तर है जिसकी सम्भावना का कारण यह हो सकता है कि हमने वस्तुओं को जो भार दिया है वह उनके वास्तविक उपभोग के महत्त्व में अधिक हो। अतः भारशील निर्देशाङ्क कम विश्वसनीय होते हैं। किन्तु सामान्य निर्देशाङ्कों से हम वस्तु-स्थिति का ठीक अनुमान लगा सकते हैं। परन्तु इनको तैयार करने में वस्तुओं का चुनाव ठीक होना तथा उनकी कीमतें ठीक प्रकार ली जाना आवश्यक है। सामान्य निर्देशाङ्क बनाते समय यदि अधिक संख्या में वस्तुओं का समावेश किया जाय तो सामान्य निर्देशाङ्क अधिक विश्वसनीय हो सकते हैं।

निर्देशांक बनाते समय ध्यान में रखने योग्य सूचनाएँ

१. आधार-वर्ष का चुनाव बहुत सावधानी से करना चाहिए। यह वर्ष ऐसा होना चाहिए जिसमें ऐसी कोई भी घटना न घटी हो जिस कारण वस्तु-मूल्यों में अधिक अन्तर पड़े क्योंकि उस अवस्था में निर्देशाङ्क तैयार करने का मूल हेतु—अर्थात् मुद्रा की क्रयशक्ति पर क्या प्रभाव हुआ, यह

जानना—साध्य नहीं हो सकता। दूसरे, ऐसे वर्ष के मूल्य-स्तर उस आकस्मिक घटना से प्रभावित होने के कारण मूल्य-स्तर का भी ठीक-ठीक अनुमान नही लगाया जा सकता। फिर भी आधार-वर्ष कौनसा लिया जाय यह निर्देशाङ्क बनाने के उद्देश्य पर निर्भर है। उदाहरणार्थ, युद्ध-पूर्व तथा युद्धोपरान्त मूल्य-स्तर की तुलना करने के लिए युद्ध-पूर्व वर्ष १६३६ लेना ही श्रेयस्कर होगा।

दूसरे, निर्देशाङ्क से किन वस्तुओं का समावेश किया जाय, इसमें भी सावधानी की आवश्यकता है। यह वस्तुएँ ऐसी होनी चाहिएँ जिससे निर्देशाङ्क बनाने का हमारा हेतु साध्य हो सके। उदाहरणार्थ, यदि श्रमिकों के जीवन-मान-स्तर के अन्तर को हम जानना चाहते है तो वस्तुएँ ऐसी हों जो अधिकतर श्रमिकों के उपभोग मे आती हों और सामान्य जनता का जीवन-स्तर जानना हो तो सर्व-साधारण के उपभोग की वस्तुओं को ही निर्देशाङ्क बनाने के लिए लेना होगा। ये वस्तुएँ देश, काल एवं परिस्थिति के अनुसार भिन्न होंगी। अधिक से अधिक वस्तुओं का समावेश निर्देशाङ्क बनाते समय करना चाहिए जिससे विश्वसनीय परिणाम पर पहुँच सकें।

तीसरे, वस्तुओं की कीमतों का समावेश करते समय भी सावधानी रखनी चाहिए। वस्तुओं की कीमतें थोक हों अथवा फुटकर हों यह बात निर्देशाङ्क बनाने के हेतु पर निर्भर रहेगी। यदि जीवन-स्तर मालूम करना है तो फुटकर मूल्य लेना होगा। इसके विपरीत, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की जानकारी के लिए हों तो अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य तथा विदेशी व्यापार में आनेवाली वस्तुओं को ही लेना पड़ेगा। इसके साथ ही, वस्तुओं के मूल्य सही हैं यह देखना भी आवश्यक है।

चौथे, मूल्य के अनुपातों का मध्यम मान बहुत सावधानी से निकालना चाहिए। इसी प्रकार वस्तुओं को भार देते समय भी सावधानी की आवश्यकता है।

इतनी सब सावधानी रखते हुए भी निर्देशाङ्क मुद्रा के मूल्य-परिवर्तन को अथवा वस्तुओं के मूल्य-स्तर को सही-सही दिग्दर्शित नहीं करते क्योंकि वे केवल मूल्य-स्तर का मध्यम मान (Average Mean) बताते हैं तथा मुद्रा के प्रसार अथवा सङ्कोच से होने वाले परिणामों को नहीं बता सकते। किन्तु मुद्रा के मूल्य-परिवर्तन का हम अनुमान लगा सकते हैं। अतः रॉबर्टसन के शब्दों में "तात्पर्य यह कि मुद्रा के मूल्य-परिवर्तनों का ठीक से माप लेना न सैद्धान्तिक दृष्टि से और न प्रत्यक्ष व्यवहार में ही सम्भव है। हाँ, मुद्रा-मूल्य

परिवर्तित होता है और यदि पर्याप्त सावधानी रखी गई तो प्रत्यक्ष उपयोग के लिए उसका माप ठीक रीति से लिया जा सकता है।"[1] मार्शल ने भी यही कहा है कि "क्रयशक्ति का पूर्णतः सही माप लेना सम्भव ही नहीं किन्तु विचारणीय भी नहीं है।"[2]

निर्देशांक बनाने से लाभ

१. निर्देशाङ्कों के द्वारा हम क्रयशक्ति के परिवर्तन को जान सकते हैं। ये परिवर्तन अर्थशास्त्र के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं क्योंकि इनसे किसी भी देश के जीवन-स्तर के परिवर्तनों को जाना जा सकता है।

२. क्रयशक्ति परिवर्तन से भिन्न-भिन्न समय में तथा भिन्न-भिन्न देशों में जनता की आय तथा श्रमिकों के वेतन में क्या अन्तर पड़ता है, इसकी जानकारी प्राप्त होती है तथा निर्देशाङ्कों के द्वारा वेतन-स्तर में समायोजन (Adjustment) करना सम्भव होता है।

३. मुद्रा-सङ्कोच अथवा मुद्रा-प्रसार के कारण क्रयशक्ति पर क्या एवम् कितना प्रभाव पड़ता है, इसको आँका जा सकता है।

४. दीर्घकालीन ऋणों के शोधन (Payment) में समता लाने के लिए निर्देशाङ्क अधिक उपयोगी हैं क्योंकि इनके द्वारा क्रयशक्ति की कमी या बढ़ती का माप मिलता है।

५. फिशर, कीन्स आदि अर्थशास्त्रियों के मतानुसार वस्तुओं का मूल्य-स्तर स्थिर रखने के लिए तथा व्यापार में स्थायित्व लाने के लिए ये बहुत उपयोगी हैं।

विश्वसनीय निर्देशांक-स्रोत

विभिन्न देशों में विश्वसनीय निर्देशाङ्क प्राप्त करने के स्रोत निम्नलिखित हैं :—

इङ्गलैण्ड में 'सॉरबेक' तथा 'इकॉनॉमिस्ट' ये दोनों संस्थाएँ अपने निर्देशाङ्क बनाने के लिए क्रमशः ४५ और २२ वस्तुओं का समावेश करती हैं।

---

[1] *"The conclusion then is that neither in practice nor perhaps in theory is it possible to measure accurately changes in the value of money. Nevertheless there is no doubt that the value of money does change, and, if sufficient care is taken, measures accurate enough for some practical purpose can be found and used."*
—*Robertson.*

[2] *'A perfectly exact measure of purchasing power is not only unattainable but even unthinkable."* —*Marshall.*

भारत में श्रमिकों के जीवन-स्तर सम्बन्धी बम्बई श्रम-मन्त्रालय के निर्देशाङ्क तथा रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के निर्देशाङ्क विश्वसनीय होते हैं। संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में 'ब्यूरो ऑफ लेबर स्टेटिस्टिक्स' के, तथा संयुक्तराज्य में श्रम-मन्त्रालय तथा 'बोर्ड ऑफ ट्रेड' के निर्देशाङ्क विश्वसनीय हैं।

प्रश्न

१. मुद्रा के मूल्य से क्या तात्पर्य है ? उसका विवेचन कीजिये।

२. मुद्रा का मूल्य किन बातों पर निर्भर है, तथा वह कैसे मालूम किया जाता है ?

३. मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त क्या है ? आलोचना सहित लिखिये।

४. मुद्रा की माँग एवम् पूर्ति से आप क्या समझते हैं ? इनका मुद्रा के मूल्य पर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है ?

५. निर्देशाङ्क क्या हैं तथा कितने प्रकार के हैं ? उदाहरण सहित लिखिये।

६. निर्देशाङ्क बनाने के लिए आप क्या-क्या सावधानी रखेंगे ? क्या निर्देशाङ्क से लाभ भी हैं ? सविस्तार लिखिये।

अध्याय ७

मुद्रा-स्फीति तथा मुद्रा-संकोच

मुद्रा-परिमाण में वृद्धि या कमी होने से वस्तुओं की कीमतें सामान्यतः प्रभावित होती हैं, यह हमने पिछले अध्याय में देखा। मुद्रा-परिमाण में यदि माँग से अधिक वृद्धि होती है तो उस समय वस्तुओं का मूल्य-स्तर (Price Level) बढ़ने लगता है अथवा मुद्रा का अवमूल्यन (Depreciation of Money) होने लगता है अर्थात् वही मुद्रा पहले की अपेक्षा कम वस्तुएँ खरीद सकती है; इसके विपरीत जब किन्हीं कारणों से माँग की अपेक्षा मुद्रा-परिमाण में कमी की जाती है तो वस्तुओं का मूल्य-स्तर घटने लगता है या कीमतें गिर जाती हैं अथवा वही मुद्रा अब पहिले की अपेक्षा अधिक चीजें खरीद सकती है। ऐसी अवस्था में मुद्रा का अधिमूल्यन (Appreciation of Money) होता है। मुद्रा की माँग की अपेक्षा अधिक वृद्धि करने की क्रिया को हम मुद्रा-स्फीति (Inflation) तथा कम करने की क्रिया को मुद्रा-संकोच (Deflation) कहते हैं।

मुद्रा-स्फीति अथवा मुद्रा का अवमूल्यन : यह वह क्रिया है जिसमें मुद्रा की माँग की अपेक्षा मुद्रा का चलन अधिक होता है। उसी प्रकार मुद्रा-संकोच अथवा मुद्रा का अधिमूल्यन उस क्रिया को कहते हैं जिससे मुद्रा का चलन माँग की अपेक्षा बहुत कम हो जाता है।

मुद्रा-स्फीति के कारण

मुद्रा-स्फीति अनेक कारणों से होती है। कुछ नैसर्गिक (Natural) हैं, तो कुछ बनावटी कारण भी होते हैं।

नैसर्गिक कारणों में हम ऐसे कारणों का समावेश करेंगे जो सरकार के नियन्त्रण में नहीं होते जैसे सोने या चाँदी की खानों से अधिक उत्पादन होना, नई खानों की खोज, तथा सोना-चाँदी का अधिक मात्रा में आयात होने लगना।

बनावटी कारणों में वे कारण होते हैं जिन्हें सरकार राष्ट्रीय आय-व्यय-पत्रक (Budget) को सन्तुलित (Balance) करने के लिए कार्य में लाती है ; जैसे किसी संकट काल में अथवा युद्धजन्य परिस्थिति में सरकार को जब अधिक व्यय करना पड़ता है उस समय या तो ऋण लेकर काम हो सकता है या फिर पत्र-मुद्रा का चलन बढ़ाकर । ऐसी अवस्था में आवश्यकता से अधिक पत्र-मुद्रा चलन में लाई जाती है । दूसरे, मुद्रा के चलन में कमी न होते हुए जब उत्पादन घटने लगता है उस अवस्था में मुद्रा-स्फीति हो जाती है क्योंकि मुद्रा-विनिमय के लिए वस्तुओं की कमी के कारण कीमतें बढ़ने लगती हैं ।

मुद्रा-संकोच के कारण

पहिला कारण यह है कि जब उत्पादन की मात्रा बढ़ने लगती है तथा मुद्रा-परिमाण पूर्ववत् रहता है उस अवस्था में मुद्रा-विनिमय के लिए वस्तुएँ अधिक हो जाने से मुद्रा की क्रयशक्ति बढ़ जाती है तथा कीमतें गिरने लगती हैं । दूसरे, जिस समय किन्हीं कारणों से सरकार देश की मुद्रा का परिमाण कम कर देती है और उत्पादन अथवा विनिमय के लिए प्राप्त वस्तुओं की संख्या में कमी नहीं आती उस समय भी मुद्रा की क्रयशक्ति बढ़ने लगती है अथवा कीमतें गिरने लगती हैं ।

मुद्रा-स्फीति अथवा मुद्रा-संकोच जिस समय किसी देश में होता है उस समय प्रत्येक वस्तु की कीमत न तो एकसी बढ़ती है और न प्रत्येक वस्तु की कीमत गिरती ही है, बल्कि कुछ वस्तुओं की कीमतें गिरती हैं तथा कुछ वस्तुओं की कीमतें बढ़ती हैं और मूल्य-स्तर में एक ही दिशा में परिवर्तन होता है अर्थात् मुद्रा-स्फीति की अवस्था में मूल्य-स्तर बढ़ने लगता है और मुद्रा-संकोच की अवस्था में मूल्य-स्तर घटने लगता है, जिसका अनुमान निर्देशाङ्क से लगाया जा सकता है । कीमतें जिस समय बढ़ती या घटती हैं उस समय समाज के विभिन्न वर्गों पर विभिन्न परिणाम होते हैं क्योंकि किसी भी समाज में कुछ अधमर्ण (Debtors) होते हैं तथा कुछ उत्तमर्ण (Creditors), कुछ लोग उत्पादक (Producers) या व्यापारी होते हैं, कुछ लोग श्रमिक या निश्चित वेतन पाने वाले कर्मचारी होते हैं तथा सभी लोग उपभोक्ता होते हैं ; और इनमें से प्रत्येक वर्ग की आर्थिक शक्ति (Economic Strength) भी भिन्न होती है । इस विभिन्नता की दृष्टि से प्रो० कीन्स ने समाज का वर्गीकरण इस प्रकार किया है :—

१. विनियोगकर्त्ता (Investing Class),

२. व्यापारी अथवा उत्पादक वर्ग (Producers or Business Class) तथा

३. श्रमिक एवं कर्मचारी वर्ग (Wage-earning Class) ।

मुद्रा-स्फीति (अथवा मुद्रा के अवमूल्यन) के परिणाम

१. बढ़ती हुई कीमतों से व्यापारियों तथा उत्पादकों का लाभ बढ़ता है जिससे उत्पादन एवं व्यापार कार्य में वृद्धि होती है क्योंकि उत्पादन-मूल्य (Cost of Production) जिस परिमाण में कीमतें बढ़ती हैं उसी परिमाण में नहीं बढ़ता, जिसकी वजह से लाभ बढ़ता है तथा व्यापार उद्योगों का प्रचलन होता है। यदि कीमतें क्रमशः बढ़ती रहीं तो उत्पादन एवं व्यापार को उत्तेजना (Encouragement) मिलती है। इसके विपरीत यदि तीव्र गति से कीमतें बढ़ती हैं तो व्यापार में अनिश्चितता आजाती है और सट्टेबाजी (Speculation) शुरू होकर अनैतिकता फैलती है जिसका व्यापार तथा देश पर बुरा परिणाम होता है। उत्पादक के नाते किसानों पर भी यही परिणाम होते हैं।

२. बढ़ती हुई कीमतों के समय अधमर्णों को लाभ होता है क्योंकि मुद्रा की क्रयशक्ति कम होने से वे वस्तुओं में कम भुगतान करते हैं तथा उत्तमर्णों को हानि होती है क्योंकि वे उतनी ही मुद्रा से अब पहिले की अपेक्षा—मुद्रा की क्रयशक्ति कम होने से—कम वस्तुएँ ले सकते हैं। हम यह जानते हैं कि व्यापारियों का कार्य भी लेन-देन से ही चलता है और जहाँ तक लेन-देन का सम्बन्ध है, वे भी उत्तमर्ण तथा अधमर्ण होते हैं। अतः अधमर्ण व्यापारी की दृष्टि से उसे लाभ होता है एवं उत्तमर्ण व्यापारी को हानि होती है।

३. श्रमिक तथा कर्मचारी वर्ग को मुद्रा-स्फीति अथवा मुद्रा के अवमूल्यन के समय हानि ही होती है क्योंकि मुद्रा की क्रयशक्ति कम हो जाने से वे अपनी निश्चित आय में कम वस्तुएँ खरीद सकते हैं तथा उनकी वास्तविक आय (Real Income) कम हो जाती है। जहाँ तक उत्पादन कार्य में वृद्धि होती है वहाँ तक उनको लाभ होता है क्योंकि रोजगार (Employment) बढ़ जाता है और अधिक आदमियों को काम मिलता है। फिर भी तीव्र गति से जब वस्तुओं की कीमतें बढ़ने लगती हैं तब उनको हानि ही होती है। यह कहा जा सकता है कि उनको महँगाई-भत्ता आदि भी दिया जाता है किन्तु यह तत्काल नहीं दिया जाता और न मूल्य-स्तर निर्देशाङ्क के अनुसार उसमें वृद्धि ही होती है। इसके अतिरिक्त यह भत्तों का लाभ भी उन्हीं देशों

में जल्दी मिलता है जहाँ पर श्रम-संगठन अच्छी प्रकार से है किन्तु पिछड़े हुए देशों में श्रमिकों को बुरी तरह हानि होती है।

४. कीमतें बढ़ने के काम में सरकार को लाभ होता है क्योंकि इस समय में सरकार का ऋण-भार कम हो जाता है अथवा पुराने ऋण-पत्रों को कम ब्याज के नये ऋण-पत्रों से बदल दिया जाता है।

५. व्यापार में वृद्धि होने के कारण विनियोगकर्त्ताओं को मुद्रा-लाभ होता है क्योंकि उनके विनियोग-पत्रों के मूल्य बढ़ जाते हैं। परन्तु जहाँ तक लाभांश (Dividends) एवम् ब्याज का सम्बन्ध है, वह निश्चित मात्रा में ही मिलता है; क्रयशक्ति कम होने से उनको हानि ही होती है क्योंकि एक ओर तो विनियोग-पत्रों का मूल्य बढ़ता है और दूसरी ओर वस्तुओं की कीमतें। अतः उनकी वास्तविक आय घटती है।

६. मुद्रा-स्फीति का विदेशी व्यापार पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है क्योंकि कीमतें बढ़ जाने से विदेशी कम खरीदते हैं और विदेशी वस्तुएँ सस्ती होने से उनका आयात बढ़ जाता है, परिणामस्वरूप व्यापारिक सन्तुलन (Trade Balance) उस देश के विपक्ष में (Unfavourable) हो जाता है।

७. सर्व-सामान्य वस्तुओं की कीमतें बढ़ जाने से देश के उपभोक्ताओं (Consumers) को हानि होती है क्योंकि पूर्ववत् जीवन-मान रखने के लिए उनको अधिक व्यय करना पड़ता है।

इस प्रकार मुद्रा-स्फीति से कुछ मर्यादा तक तो लाभ होता है किन्तु यदि यह तीव्र गति से बढ़ता ही गया तो व्यापार एवं उत्पादन में अस्थिरता आ जाती है, सरकार के प्रति अविश्वास उत्पन्न हो जाता है तथा अन्त में भयंकर राष्ट्रीय हानि होती है।

मुद्रा-संकोच (अथवा मुद्रा के अधिमूल्यन) के परिणाम

मुद्रा-संकोच के समय विभिन्न वर्गों पर मुद्रा-स्फीति के विपरीत परिणाम होते हैं।

१. इसमें वस्तुओं की कीमतें घट जाने से उत्पादक वर्ग को तथा किसानों को हानि होती है एवम् उत्पादन कार्य में शिथिलता आ जाती है तथा असम्भाव्य हानि के कारण अनेक उद्योग नष्ट हो जाते हैं जिससे देश में आर्थिक अस्थिरता और बेकारी फैल जाती है, जिसके निवारण के लिए सरकार को बहुत खर्च करना पड़ता है और सरकारी आय-व्यय-पत्रक असन्तुलित हो जाता है।

२. घटती हुई कीमतों के कारण अधमर्णों को हानि तथा उत्तमर्णों को लाभ होता है क्योंकि उसी मुद्रा से उत्तमर्ण अधिक वस्तुएं खरीद सकते हैं तथा उसी मुद्रा को लौटाने में अधमर्ण अधिक क्रयशक्ति देते हैं जिससे उन्हें हानि होती है।

३. श्रमिक अथवा कर्मचारी वर्ग को कीमतों के घटने से लाभ होता है क्योंकि वे अब निश्चित आय में अधिक वस्तुएँ खरीद सकते हैं। परन्तु यदि तीव्र गति से कीमतें घटती गईं तो उद्योग-धन्धे नष्ट हो जाते हैं तथा बेकारी फैलती है। अतः क्रमशः होने वाले अधिमूल्यन अथवा संकोच के समय इस वर्ग को लाभ होता है तथा तीव्र गति से होने वाले संकोच में हानि होती है।

४. कीमतें घटने से मुद्रा की क्रयशक्ति बढ़ जाती है, जिससे सरकार पर ऋण-भार बढ़ जाता है। बेकारी आदि की नई समस्याएँ उपस्थित होती हैं जिनके ऊपर सरकारी व्यय बढ़ता है तथा आय-व्यय-पत्रक में असन्तुलन होता है।

५. विनियोगकर्त्ताओं को, जहाँ तक लाभांश एवम् व्याज का सम्बन्ध है, उसी मात्रा में मिलता है तथा कीमतें घटने से उसी मुद्रा से ये ज्यादा वस्तुएँ खरीद सकते हैं अर्थात् उनको लाभ होता है।

६. विदेशी व्यापार पर मुद्रा-संकोच का परिणाम अच्छा होता है क्योंकि इस देश की कीमतें गिर जाने से विदेशी यहाँ से अधिक माल खरीदते हैं जिससे निर्यात में वृद्धि होती है। तुलनात्मक दृष्टि से विदेशों में वस्तुएँ महँगी होने से आयात कम होता है। परिणामस्वरूप व्यापारिक सन्तुलन इस देश के पक्ष में (Favourable) होता है।

७. उपभोक्ताओं को वस्तुओं की कीमतें गिर जाने से लाभ होता है क्योंकि उनका जीवन-मान (Standard of Livirg) पर होने वाला खर्च कम होता है।

उपर्युक्त विभिन्न लाभ-हानियों से यह स्पष्ट होता है कि तीव्र गति से होने वाले मुद्रा-संकोच के समय देश को हानि ही ज्यादा उठानी पड़ती है इसलिए अर्थशास्त्रियों का कहना है कि मुद्रा-स्फीति तथा मुद्रा-संकोच में मुद्रा का संकोच सबसे हानिकारक है। वैसे तो दोनों में ही सम्पत्ति-वितरण (Distribution of Wealth) में समता नहीं रहती इसलिए मूल्य-स्तर में स्थायित्व होना ही देश एवं समाज की दृष्टि से लाभदायक है क्योंकि इससे देश के आर्थिक ढाँचे में सन्तुलन रहता है तथा व्यापार, उत्पादन आदि को प्रोत्साहन मिलता है।

मूल्य-स्तर-नियमन (Reflation)

बढ़ती हुई कीमतों को अथवा गिरती हुई कीमतों को पहिले के स्तर पर लाने के लिए अथवा मूल्य-स्तर में स्थिरता लाने के लिए जब जानबूझ कर मुद्रा-स्फीति या मुद्रा-संकोच किया जाता है उस स्थिति में ऐसी मुद्रा-स्फीति या मुद्रा-संकोच को मूल्य-स्तर-नियमन (Reflation) कहते हैं। मूल्य-स्थैर्य के लिए जब सरकार इस प्रकार से मुद्रा-परिमाण का नियन्त्रण करती है तभी मूल्यों मे स्थिरता रखी जा सकती है, यह तथ्य आजकल सर्वमान्य है।

प्रश्न

१. मुद्रा-स्फीति तथा मुद्रा-संकोच से आप क्या समझते हैं? कारण मीमांसा सहित लिखिये।

२. मुद्रा-स्फीति अथवा मुद्रा-संकोच से समाज पर क्या प्रभाव होता है? आपकी दृष्टि से कौन-सी नीति अच्छी है और क्यों?

३. 'मुद्रा का अधिमूल्यन' तथा 'मुद्रा का अवमूल्यन' से क्या तात्पर्य है? मूल्य-स्तर-नियमन क्या है तथा क्यों आवश्यक है?

अध्याय ८

मुद्रा-मान पद्धतियाँ

विनिमय की आवश्यकता तथा मुद्रा का विकास आर्थिक प्रगति के अनुसार किस प्रकार हुआ एवम् मुद्रा के लिए भिन्न-भिन्न वस्तुओं का प्रयोग कैसे किया गया यह हमने पिछले अध्यायों में देखा। क्रमशः आर्थिक विकास के साथ अधिक परिमाण के उत्पादन एवम् श्रम-विभाजन के साथ तथा अन्तर्देशीय व्यापार की वृद्धि एवम् विकास के साथ यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि मुद्रा-वस्तु में मूल्य की स्थिरता रहे जिससे मुद्रा-स्फीति एवम् मुद्रा-संकोच से होने वाली हानियाँ न हों तथा व्यापार का भली भाँति संचालन हो सके। मुद्रा-मान (Monetary Standard) अथवा मुद्रा-पद्धति ऐसी हो जो सर्वग्राह्य हो एवम् जिससे अन्तर्देशीय व देशी व्यापार में सुगमता हो और इसके साथ ही वह मुद्रा के कार्य करने में सफल हो। अर्थात् मुद्रा-मान देश की उस मुद्रा को कहते हैं जिसके साथ सब वस्तुओं का मूल्यमापन किया जाय तथा जिससे उस देश के अन्य प्रतीक सिक्के सम्बन्धित हों। ये मुद्रा-मान भिन्न-भिन्न देशों में उनकी आवश्यकतानुसार एवम् आर्थिक प्रगति के अनुसार भिन्न-भिन्न रहे हैं। ये मुद्रा-मान या तो किसी ऐसी वस्तु से सम्बन्ध रखते हैं जिनमें वाह्य मूल्य अथवा वस्तु-मूल्य (External Value or Value as a Commodity) रहता है अथवा किसी ऐसी वस्तु से सम्बन्ध रखते हैं जिसमें वाह्य मूल्य नहीं होता। इसकी सारणी (Table) पृष्ठ ४६-४७ पर दी है।

अच्छी मान-पद्धति के लक्षण

यहाँ पर यह जानना आवश्यक है कि अच्छी मुद्रा-मान पद्धति में क्या-क्या गुण होने चाहिएँ। किसी भी अच्छी मुद्रा-मान पद्धति में निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक है :—मूल्य में स्थिरता (Stability in Value), सरलता (Simplicity), लोच अथवा उद्वनम्यता (Elasticity), स्वयंपूर्ण कार्यशीलता (Automatic in its Operation) तथा मितव्ययिता (Economy)।

मौद्रिक मान की सारणी

(Table of Monetary Standards)

मान जिससे प्रतीक मुद्राएँ सम्बन्धित हैं

- किसी बाहरी वस्तु से जिसका मूल्य-सम्बन्ध रहता है
  - एक-धातुमान पद्धति (स्वर्ण अथवा रौप्यमान)
    - स्वर्ण-चलन-मान
      1. स्वर्ण का अप्रतिरोध टङ्कण, स्वातन्त्र्य,
      2. प्रतीक मुद्रा का स्वर्ण-मुद्रा में परिवर्तन,
      3. मूल्यमापक तथा विनिमय-माध्यम में स्वर्ण-मुद्राओं का प्रयोग।
    - स्वर्ण-खण्डमान
      1. मूल्यमापक,
      2. विनिमय-माध्यम नहीं अतः मुद्राओं का टङ्कण भी नहीं होता,
      3. प्रतीक मुद्रा का स्वर्ण में निश्चत दर पर तथा निश्चित मात्रा में परिवर्तन।
    - स्वर्ण-विनिमय-मान
      1. आन्तरिक उपयोग के लिए प्रतीक मुद्राएँ,
      2. स्वर्ण का प्रतीक मुद्राओं के बदले केवल विदेशी भुगतान के लिए देना अथवा स्वर्ण न देते हुए विदेशी विनिमय देना।
  - द्विधातुमान पद्धति
  - विनिमय-मान पद्धति — इसमें देश की मुद्रा का सम्बन्ध किसी अन्य देश की मुद्रा से रहता है एवं देश में केवल प्रतीक मुद्रा का चलन होता है; उदाहरणार्थ, स्टर्लिङ्ग अथवा डालर विनिमय-मान।
- जिसका किसी धातु अथवा बाहरी वस्तु से सम्बन्ध नहीं होता
  - सुसंचालित पत्र-चलन पद्धति (Managed Paper Currency Standard) — पत्र-मुद्रा ही विनिमय-माध्यम तथा मूल्यमापक

(द्विधातुमान पद्धति)

सम्पूर्ण द्विधातुमान पद्धति (Bi-metallic Standard)	अपूर्ण द्विधातुमान पद्धति (Limping Standard)	समानुपात-मान पद्धति (Parallel Standard)
१. स्वर्ण एवं रौप्य का अप्रतिरोध टंकण स्वातन्त्र्य एवं चलन । २. टकसाल से दोनों की परस्पर दर निश्चित होती है ।	द्विधातुमान के सब लक्षण होते हैं किन्तु रौप्य की मुद्राओं का टंकण-स्वातन्त्र्य जनता को नहीं होता ।	द्विधातुमान के सब लक्षण होते हैं, लेकिन टंक-अनुपात तथा विपणि-अनुपात (Market Ratio) में समानता रहती है ।

मूल्य में स्थिरता : मुद्रा-मान पद्धति ऐसी होनी चाहिए जिससे देश के मूल्य-स्तर तथा विदेशी विनिमय की दर में स्थिरता रखी जा सके और इस प्रकार कीमतों के उतार-चढ़ाव के कारण होने वाली हानियों से बचाव रहे। कुछ अर्थशास्त्रियों का मत तो यह है कि विदेशी विनिमय-दर की स्थिरता की अपेक्षा देश का मूल्य-स्तर स्थिर रहना अधिक आवश्यक है जिससे व्यापार एवं उद्योगों का विकास अच्छी प्रकार हो।

सरलता : मुद्रा-मान पद्धति सरल होनी चाहिए जिससे कोई भी व्यक्ति उसे आसानी से समझ सके। ऐसी पद्धति में जनता को शीघ्र ही विश्वास हो जाता है।

लोच अथवा उद्‌वनम्यता : मुद्रा-मान पद्धति में लोच का होना भी आवश्यक है जिससे उस देश की व्यापारिक आवश्यकता के अनुसार मुद्रा का परिमाण घटाया या बढ़ाया जा सके। मुद्रा के मूल्य में स्थिरता लाने के लिए मुद्रा-मान में लोच होना आवश्यक है।

स्वयंपूर्ण कार्यशीलता : मुद्रा-मान पद्धति में सरकार द्वारा हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए तथा वह स्वयम् ही कार्यशील होनी चाहिए क्योंकि यदि सरकार द्वारा हस्तक्षेप अधिक होता है तो उस पद्धति में जनता का विश्वास कम हो जाता है। अतः मुद्रा-मान पद्धति स्वयंपूर्ण कार्यशील होनी चाहिए जिससे उसमें निश्चितता रहे।

मितव्ययिता : मुद्रा-मान पद्धति में खर्च की कमी होनी चाहिए जिससे उसके सञ्चालन में अधिक व्यय न हो तथा सोना-चाँदी की भी घिसावट-निधि आदि में होने वाले खर्च की बचत हो।

उपर्युक्त गुणों को ध्यान में रखकर प्रत्येक देश में उस देश की आवश्यकतानुसार एवं आर्थिक परिस्थिति के अनुसार कौनसा मुद्रा-मान ठीक होगा यह निश्चित करना चाहिए। मुद्रा-मान का उपयोग जनता की आदतों पर भी निर्भर है। विभिन्न देशों में जिन मुद्रा-मान पद्धतियों का उपयोग हुआ वे विशेषतः निम्नलिखित प्रकार की हैं :—

१. एक-धातुमान पद्धति (Mono-metallic Standard)
२. द्विधातुमान पद्धति (Bi-metallic Standard)

एक-धातुमान पद्धति (Mono-metallic Standard)

एक-धातुमान पद्धति में किसी एक ही धातु के—सोना या चाँदी के—

सिक्के प्रधान मुद्रा के रूप में चलन में होते हैं और इसी के साथ प्रतीक मुद्रा का मूल्य सम्बन्धित होता है तथा यही मूल्यमापन का काम करते हैं। इस धातु की मुद्रा असीमित विधिग्राह्य होती है, मुक्त टङ्कण स्वातन्त्र्य होता है अथवा कोई भी व्यक्ति वह धातु लेजाकर सिक्के ढलवा सकता है। इसके अतिरिक्त दैनिक उपयोग के लिए प्रतीक अथवा गौण मुद्रा का चलन होता है जो किसी गौण धातु की अथवा कागज की बनाई जाती है तथा सीमित विधिग्राह्य होती है। इस गौण मुद्रा के बदले में किसी भी समय प्रधान मुद्रा या सोना या चाँदी मिल सकती है। यदि इस पद्धति में प्रधान मुद्रा सोने की हो तो उसे स्वर्णमान पद्धति (Gold Standard) और अगर चाँदी की प्रधान मुद्रा हो तो उसे रौप्यमान पद्धति (Silver Standard) कहते हैं।

स्वर्णमान पद्धति

स्वर्णमान पद्धति में स्वर्ण वस्तुओं का मूल्यमापन कार्य करता है। इसमें यह आवश्यक नहीं है कि सोने के सिक्के चलन में हों किन्तु जो सिक्का चलन में हो अथवा प्रतीक मुद्रा के रूप में हो उसका परिवर्तन स्वर्ण में होना आवश्यक है। केमरर के शब्दों में "यह वह मान-पद्धति है जिसमें कीमतें, ऋण तथा भृत्ति (Wages) उस मुद्रा में व्यक्त की जाती हैं, तथा उसी मुद्रा में उनको चुकाया जाता है, जिसका मूल्य स्वतन्त्र स्वर्ण-विपणि (Free Gold Market) में निश्चित सोने की मात्रा में होता है।"[1] इस व्याख्या के अनुसार न तो स्वर्ण-मुद्रा का चलन ही आवश्यक है और न उसकी विधिग्राह्यता ही। उसी प्रकार प्रतीक मुद्रा अथवा पत्र-मुद्रा का स्वर्ण में परिवर्तन होना भी आवश्यक नहीं है किन्तु ईप्सित (Desirable) है। यह पद्धति विभिन्न देशों में तीन रूपों में उपयोग में रही :—

१. स्वर्ण-चलन पद्धति (Gold Currency Standard)

२. स्वर्ण-खण्ड-मान पद्धति (Gold Bullion Standard) तथा

३. स्वर्ण-विनिमय-मान पद्धति (Gold Exchange Standard)

---

1 '..*is a money-system where the unit of value, in which prices and wages and debts are customarily expressed and paid, consists of the value of a fixed quantity of gold in a Free Gold Market."*

—'Gold and the Gold Standard' Pp. 135-136

१. स्वर्ण-चलन पद्धति अथवा स्वर्ण-मुद्रा-मान

(Gold Specie or Currency Standard)

स्वर्णमान पद्धति का प्रारम्भ शुरू-शुरू में इसी प्रकार हुआ। इसके मुख्य लक्षण निम्नलिखित हैं :—

१. स्वर्ण मूल्यवान् होता है अतएव अन्य वस्तुओं की कीमतें एवं उसी प्रकार गौण सिक्कों का मूल्याङ्कन स्वर्ण के साथ किया जाता है।

२. साथ ही साथ, स्वर्ण विनमय-माध्यम का कार्य भी करता है अर्थात् स्वर्ण के प्रमाणित सिक्के चलन में रहते हैं जिनका अप्रतिरोध अथवा मुक्त टंकण होता है, जो असीमित विधिग्राह्य होते हैं तथा जिनका वाह्य मूल्य (Face Value) तथा अन्तर्मूल्य (Intrinsic Value) बराबर होते हैं।

३. स्वर्ण की बचत करने के लिए पत्र-मुद्रा अथवा अन्य गौण मुद्राओं का यदि चलन होता है तो ऐसी सभी प्रतीक मुद्राएँ स्वर्ण में परिवर्तित हो सकती हैं।

४. सोने के आयात एवम् निर्यात पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होता। १९१४ के पूर्व यह पद्धति इङ्गलैंड, संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रान्स, जर्मनी आदि देशों में प्रचलित थी।

यदि स्वर्ण की जगह रौप्य (चाँदी) का उपयोग इसी प्रकार से होता हो तो उसे रौप्य-चलन पद्धति (Silver Currency Standard) कहेंगे। इस प्रकार की पद्धति कहीं भी प्रचलित नहीं है।

स्वर्ण-चलन पद्धति के लाभ : १. स्वर्ण में जनता का विश्वास होने के कारण इस पद्धति में जनता का विश्वास शीघ्र ही स्थापित होता है।

२. इसकी कार्य-पद्धति सरल होने के कारण यह प्रत्येक व्यक्ति की समझ में शीघ्र आ जाती है।

३. स्वर्ण के आयात-निर्यात पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न होने से राज्य की ओर से इसकी कार्य-पद्धति में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं होता तथा स्वयंपूर्ण कार्यशीलता रहती है जिससे कीमतों का स्तर अपने आप विश्व-परिस्थिति से ठीक हो जाता है। उदाहरणार्थ, यदि एक देश से दूसरे देश में निर्यात से अधिक आयात होता है तो उस दशा में पहिला देश दूसरे देश का ऋणी रहेगा और उसे भुगतान के लिए सोना भेजना पड़ेगा। परिणामस्वरूप पहिले देश में मुद्रा का संकोच होकर कीमतें गिर जायँगी

और अन्य देशों की अपेक्षा यहाँ की कीमतें कम होने से इस देश का निर्यात-व्यापार बढ़ेगा जिससे यहाँ पर सोने का आयात होगा। सोने का आयात होते ही मुद्रा-प्रसार होगा तथा कीमतें चढ़ जायँगी। इस क्रिया के कारण विश्व-मूल्यों (World Prices) में स्थिरता रहेगी तथा यह आयात-निर्यात के कारण किसी के हस्तक्षेप के बिना होता रहेगा। फलस्वरूप इस मान में स्वयंपूर्ण कार्यशीलता (Automatic Working) रहेगी।

४. स्वर्ण सर्वग्राह्य होने के कारण स्वर्ण की प्रधान मुद्रा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा होती है जिससे स्वर्ण पर आधारित राष्ट्रों का व्यापार सुगम होता है।

दोष : इस पद्धति का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें सोने की बचत नहीं होती और न सोने का उपयोग ही चलन के अतिरिक्त अन्य कार्यों में किया जा सकता है। अतः यह पद्धति अधिक खर्चीली है।

२. स्वर्ण-खण्डमान पद्धति (Gold Bullion Standard)

पहिले महायुद्ध में स्वर्ण-चलन पद्धति में अनेक कठिनाइयाँ आई क्योंकि युद्ध के कारण सोने का मुक्त बाजार, आयात-निर्यात अनेकों देशों की सरकारों द्वारा बन्द किया गया। इस तथा अनेक अन्य कठिनाइयों के कारण स्वर्ण-चलन पद्धति का लोप हुआ और स्वर्ण-खण्ड पद्धति का अवलम्बन हुआ। इसको १६२५ में इङ्गलैंड ने अपनाया। इस पद्धति के मुख्य लक्षण निम्नलिखित हैं :—

१. इस पद्धति में भी स्वर्ण-चलन पद्धति की तरह स्वर्ण मूल्यमापक होता है लेकिन स्वर्ण के सिक्के न तो ढाले ही जाते हैं और न चलन में ही होते हैं अर्थात् स्वर्ण विनिमय-माध्यम का कार्य नहीं करता।

२. देश की विधिग्राह्य मुद्रा किसी गौण धातु की बनाई जाती है अथवा पत्र-मुद्रा-चलन होता है जिसके द्वारा विनिमय-माध्यम का कार्य होता है। ये प्रतीक मुद्राएँ एक निश्चित दर पर सोने में परिवर्तित की जाती हैं किन्तु सोने में प्रतीक मुद्रा का परिवर्तन एक निश्चित वजन से कम में नहीं किया जाता—फिर चाहे स्वर्ण किसी भी काम के लिए क्यों न लिया जाय।

३. सोने के बेचने में सुविधा हो इसलिए मुद्रा-संचालक को कुछ स्वर्ण-निधि देश में रखनी पड़ती है। इस प्रकार की पद्धति का अवलम्बन १६२५ में इङ्गलैंड तथा अन्य देशों में शुरू हुआ। यह पद्धति १६२७ में भारत के लिए भी हिल्टन यंग कमीशन द्वारा अपनाने के लिए प्रस्तुत की

गई थी तथा अपनाई गई थी, जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति कम से कम ४०० औंस (१०६५ तोले) सोना २१ रु० ३ आ० १० पा० प्रति तोले की दर से प्रतीक मुद्रा के बदले में खरीद सकता था। यह पद्धति १६३१ तक चालू रही जिसके बाद अनेक कठिनाइयों के कारण इसका भी परित्याग (Breakdown) हमेशा के लिए कर दिया गया। स्वर्ण के स्थान पर चाँदी का अगर इसी प्रकार उपयोग हो तो उसे रौप्य-खण्डमान पद्धति (Silver Bullion Standard) कहेंगे।

स्वर्ण-खण्ड-मान पद्धति के लाभ : १. इस पद्धति में सोने का चलन न होने के कारण घिसावट से होनेवाली हानि नहीं होती और सिक्कों के ढालने में जो खर्च होता है उसकी भी बचत होती है अतः पहिली पद्धति की अपेक्षा इस पद्धति में मितव्ययिता (Economy) है।

२. विनिमय-दर की स्थिरता के लिए सोना चलन में रहने की अपेक्षा मुद्रा-सञ्चालक के निधि में होना अधिक उपयोगी है, इसके अतिरिक्त सोने की मात्रा चलन की अपेक्षा निधि में कम रखनी पड़ती है अतः सोने की भी बचत होती है जिससे दूसरे देश भी इस पद्धति को अपना सकते हैं। परन्तु स्वर्ण-चलन पद्धति में यह सम्भव नहीं होता।

३. देश की साख भी बनी रहती है क्योंकि किसी भी काम के लिए प्रत्येक मुद्रा का परिवर्तन सोने में किया जा सकता है, जिसके लिए सरकार कानूनन बाध्य होती है। इससे इस पद्धति में जनता का विश्वास भी स्थापित हो जाता है।

४. इस पद्धति में निश्चित मात्रा से कम सोना नहीं खरीदा जा सकता, और निश्चित मात्रा में प्रत्येक व्यक्ति न खरीद सकने कारण, निधि मे कम सोने की आवश्यकता होती है और अतिरिक्त सोने को विनियोग-पत्रों (Investments) में अथवा अन्य उपयोगी कार्यों में लगाया जा सकता है।

५. ऐसा भी कहा जाता है कि इस पद्धति में भी स्वयंपूर्ण कार्यशीलता है जिससे मुद्रा का संकोच अथवा प्रसार सोने के क्रय-विक्रय के अनुसार अपने आप होता है। उदाहरणार्थ, जिस समय मुद्रा की माँग कम रहती है उस समय लोग सोना खरीदते हैं और बदले में पत्र-मुद्रा अथवा प्रतीक मुद्रा देते हैं जिससे मुद्रा का स्वयं संकोच होता है। उसी प्रकार जब मुद्रा की माँग अधिक होती है उस समय लोग सोना बेचते हैं और प्रतीक मुद्रा प्राप्त

करते हैं जिससे मुद्रा-चलन बढ़ता है। इस प्रकार इसमें अपने आप लोच रखने की क्षमता होती है।

दोष : किन्तु इसमें सत्यांश बहुत कम है जैसा कि केमरर ने लिखा है कि "करीब-करीब सब देशों में इसकी स्वयंपूर्ण कार्यशीलता युद्धपूर्व स्वर्ण-चलन-मान से कम थी क्योंकि स्वर्ण-खण्डमान तथा स्वर्ण-विनिमय पद्धति में केन्द्रीय अधिकोषों को तथा सरकारों को चलन की पूर्ति में हस्तक्षेप करने में एवं स्वर्ण-बिन्दु से च्युत होने में स्वर्ण-चलन पद्धति की अपेक्षा—जिसमें स्वर्ण-मुद्रा-चलन एवं स्वर्ण-मुद्रा-परिवर्तन था—अधिक आसानी थी।"[1] यही इस पद्धति का सबसे बड़ा दोष है।

३. स्वर्ण-विनिमय पद्धति (Gold Exchange Standard)

इस प्रकार के स्वर्णमान में निम्नलिखित लक्षण होना आवश्यक है :—

१. स्वर्ण मूल्यमापन का कार्य करता है किन्तु विनिमय माध्यम का कार्य नहीं करता अर्थात् सोने के सिक्कों का न तो चलन होता है और न वे ढाले ही जाते हैं।

२. देश में पत्र-मुद्रा का अथवा किसी अन्य धातु की गौण मुद्रा का चलन होता है जिसका सम्बन्ध स्वर्ण की निश्चित मात्रा एवं शुद्धता में निर्धारित किया जाता है। यदि कोई देश स्वर्णमान पद्धति पर नहीं है तो उस देश के सिक्के का मूल्य किसी दूसरे देश के सिक्के से परिवर्तित किया जाता है जो स्वर्णमान पर आधारित है और उस देश के चलन के साथ देशी सिक्के का परिवर्तन वैधानिक दर पर किया जाता है। उदाहरणार्थ, भारत में जब यह पद्धति थी उस समय भारत के रुपये की दर १ शि० ६ पेंस इंगलैंड के सिक्के में निश्चित की गई थी और विदेशी ऋणों के भुगतान के लिए इस दर पर सरकार अथवा रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया रुपयों के बदले में केवल विदेशी विनिमय के लिए स्टर्लिंग देने को बाध्य थी।

---

[1] *"The post-war Gold Standard nearly everywhere was less automatic in its functioning than was the pre-warstandard. Under the Gold Bullion and Gold Exchange Standards it became easier for Governments and Central Banks to manipulate the currency supply and to "slip away from the Gold-points" than it was under a Gold-coin Standard, with Gold in circulation and Gold-coin convertibility." –'Gold and the Gold Standard' by Kemerrer.*

Pp. 118-119

३. विदेशी भुगतान के लिए सरकार एक निश्चित दर पर सोना अथवा विदेशी सिक्का (Foreign Exchange) देने के लिए कानूनन बाध्य होती है।

४. अतः देश का केन्द्रीय अधिकोप अथवा सरकार विदेशी अधिकोषों में स्वर्ण-निधि रखती है अथवा अपने देश में विदेशी विनिमय अथवा विदेशी सिक्के रखती है।

५. स्वर्ण-विपणि अविरोध न होते हुए सरकार द्वारा नियन्त्रित एवं नियमित (Government-controlled and managed) होता है और कोई भी व्यक्ति न तो सोने का आयात कर सकता है और न निर्यात ही। अतः इस पद्धति में सोना अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा का कार्य करता है तथा देश के भीतर पत्र-मुद्रा अथवा अन्य गौण मुद्रा से विनिमय कार्य करता है। इस पद्धति का अवलम्बन सर्वप्रथम जावा में हुआ तथा बाद में भारत, फिलिपाइन्स, मेक्सिको, पनामा आदि देशों में हुआ। सोने के बदले यदि चाँदी का उपयोग किया जाय तो उसे रौप्य-विनिमय पद्धति (Silver Exchange Standard) कहेंगे।

स्वर्ण-विनिमय पद्धति के लाभ : १. यह स्वर्णमान की सबसे कम खर्चीली पद्धति है, क्योंकि देश में न तो सोने के सिक्कों का चलन ही होता है और न देश के अन्तर्गत कार्यों के लिए सोना देने को ही सरकार बाध्य होती है। इसमें केवल विदेशी भुगतान के लिए विदेशी अधिकोप में सोने की निधि रखनी पड़ती है जिसके लिए सोने की बहुत कम मात्रा की आवश्यकता होती है।

२. यह पद्धति अधिक लोचदार होती है अर्थात् आवश्यकतानुसार मुद्रा-प्रसार या मुद्रा-संकोच किया जा सकता है क्योंकि अन्य स्वर्णमानों मे सोने की उपलब्धता पर मुद्रा का प्रसार किया जा सकता था; परन्तु इसमें स्वर्ण-चलन अथवा देश की मुद्रा का परिवर्तन सोने में, विदेशी विनिमय के अतिरिक्त, न होने से किसी भी मात्रा में आवश्यकतानुसार मुद्रा का चलन बढ़ाया जा सकता है।

३. इस पद्धति के अवलम्बन से स्वर्णमान के सब लाभ प्राप्त होते हैं और इसी के साथ देश की मुद्रा किसी भी अन्य धातु की हो सकती है जैसा कि रॉबर्टसन ने इस पद्धति के विषय में कहा है :—"इन देशों में प्रतीक मुद्रा ही प्रमाणित मुद्रा होती है परन्तु उसका नियमन सरकार इस प्रकार से करती है जो निराधार (Arbitrary) नहीं होती किन्तु इस प्रकार से बनाई जाती है

जिससे प्रमाणित मुद्रा के मूल्य में किसी अन्य देश की मुद्रा के अथवा सोने के मूल्य के साथ स्थिरता रहे।"[1]

४. यह पद्धति निर्धन एवम् अविकसित देशों के उपयोग के लिए सब से अच्छी है तथा अधिकांश देशों में स्वर्णमान पद्धति का उपयोग किया जा सकता है।

दोष : १. इस पद्धति में केवल विदेशी भुगतान के लिए ही स्वर्ण देने को सरकार बाध्य होती है इसलिए इस पद्धति में जनता का विश्वास कम होता है।

२. विदेशी भुगतान की सुविधा के लिए विदेशी अधिकोषों में स्वर्ण-निधि रखा जाता है जो खतरनाक है क्योंकि विदेशी अधिकोषों के टूट जाने (Failure) से देश की निधि की हानि होती है।

३. इस पद्धति में लोच की कार्यशीलता स्वयं-निर्भर नहीं होती, जैसी कि पहिली दो पद्धतियों में होती है। इस पद्धति में मुद्रा का प्रसार एवम् संकोच सरकार के ही हाथ में रहता है क्योंकि उसी के हाथों में विदेशी-विनिमय का नियन्त्रण रहता है।

द्विधातुमान् पद्धति (Bi-metallic Standard)

द्विधातुमान पद्धति में स्वर्ण तथा चाँदी दोनों धातुओं के प्रमाणित सिक्के चलन में रहते हैं जिनमें एक-दूसरे का वैधानिक अनुपात में सम्बन्ध रहता है तथा दोनों ही धातुओं के सिक्के विनिमय-माध्यम एवम् मूल्यमापन का कार्य करते हैं। अर्थात् इसके मुख्य लक्षण निम्नलिखित हैं :—

१. स्वर्ण तथा चाँदी दोनों ही विनिमय-माध्यम तथा मूल्यमापन का कार्य करते हैं।
२. दोनों धातुओं की मुद्राएँ प्रमाणित मुद्राएँ होती हैं एवम् उनमें परस्पर निश्चित वैधानिक सम्बन्ध रहता है जिससे वे एक-दूसरे के साथ बदले जा सकें।
३. दोनों धातुओं का टंकण-स्वातन्त्र्य जनता को प्राप्त होता है अर्थात् कोई भी व्यक्ति सोना या चाँदी टकसाल में ले जाकर उसको प्रमाणित मुद्रा में परिवर्तित करा सकता है।

---

[1] *"In these countries (1) the standard money is token money, (2) but is nevertheless regulated by government in a manner which is not arbitrary, but is designed to keep the value of the standard money stable in terms either of some other country's money or of Gold."*

४. दोनों धातुओं की मुद्राएँ असीमित विधिग्राह्य होती हैं।

५. दोनों धातुओं की मुद्रा के वाह्य मूल्य एवम् आन्तरिक मूल्य में समानता होती है।

उपर्युक्त सब लक्षण जिस मान-पद्धति में उपलब्ध हों उसी को पूर्णतः द्विधातुमान पद्धति कहते हैं।

द्विधातुमान पद्धति का संक्षिप्त इतिहास

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने सर्वप्रथम सन् १७९२ के मिण्ट एक्ट के अनुसार द्विधातुमान पद्धति का अवलम्बन किया जिसके अनुसार प्रधान मुद्रा दोनों धातुओं—स्वर्ण तथा चाँदी—की बनाई गई जो असीमित विधिग्राह्य थीं तथा उन्हें सरकार भी असीमित मात्रा में लेने को वाध्य थी। उनको सिक्कों में ढालने का अविरोध स्वातन्त्र्य जनता को था तथा उन दोनों धातुओं का अनुपात १५ : १ निश्चित किया गया अर्थात् १५ चाँदी के सिक्कों के बदले में १ सोने का सिक्का मिल सकता था अथवा १ औंस सोने की कीमत १५ औंस चाँदी के बराबर थी। १७९२ में बाजार में भी सोने-चाँदी का यही अनुपात था। जब तक विपणि-अनुपात तथा टङ्क-अनुपात (Market Ratio and Mint Ratio) में समानता थी तब तक किसी भी प्रकार की कठिनाई नहीं हुई, किन्तु १७९५ से १८३३ तक विपणि-अनुपात १५·६ : १ था जिसके अनुसार बाजार में १ औंस सोना खरीदने के लिए जहाँ १५·६ औंस चाँदी देनी पड़ती थी, वहाँ टङ्कशाला से केवल १५ औंस चाँदी के बदले १ औंस सोना मिल सकता था अर्थात् टङ्कशाला में चाँदी का अधिमूल्यन (Over-valuation) तथा सोने का अवमूल्यन (Under-valuation) था। परिणामस्वरूप सोना बाजार में टङ्कशाला की अपेक्षा अधिक कीमती होने के कारण उसके सिक्के लोगों ने इकट्ठे करके या तो उनको गलाना शुरू किया, या बाजार में बेचने लगे या विदेशी भुगतान में उपयोग में लाने लगे। इसी समय फ्रान्स में, जहाँ द्विधातुमान पद्धति थी, १८०३ से १८३३ तक टङ्क-अनुपात १५½ : १ था अतः अमेरिका से फ्रान्स में सोने का निर्यात भी होना लाभदायक ही था। इस बढ़ती हुई प्रवृत्ति के कारण २८ जून १८३४ को टङ्क-अनुपात १५ : १ के बदले १६·००२ : १ कर दिया गया। चूँकि यह अनुपात विपणि-अनुपात से भिन्न था, जो तब भी १५·६ : १ था, इसलिए अब टङ्कशाला पर सोने का अधिमूल्यन हुआ तथा चाँदी का अवमूल्यन, अथवा जहाँ बाजार में १ औंस सोने के बदले १५·६ औंस चाँदी मिलती थी वहाँ टङ्कशाला पर १ औंस सोने के बदले १६·००२ औंस चाँदी

मिलती थी अतः बाजार में चाँदी कीमती होने के कारण चलन से चाँदी के सिक्के हटाये जाने लगे और उनको गलाकर बेचा जाने लगा। १८५० में सोने की अधिक खानों की खोज हो जाने से उत्पादन बढ़ गया और बाजार में सोने की कीमतें और भी गिर गईं। इसका भी यही परिणाम हुआ कि सिक्कों के लिए जनता सोने का उपयोग करने लगी तथा चाँदी को अन्य कामों में लाने लगी क्योंकि सिक्के के रूप में सोना अधिमूल्यित (Over-valued) तथा चाँदी अवमूल्यित (Under-valued) थी। इस क्रिया के निरन्तर चालू रहने के कारण—जिसे ग्रेशम का चलित-मुद्रा सिद्धान्त कहते हैं—अमेरिका ने सन् १८७३ मे चाँदी का टङ्कण-स्वातन्त्र्य छीन लिया। इसी समय यूरोपीय राष्ट्रों में स्वर्णमान पद्धति का अवलम्बन हो रहा था इसलिए आगे चलकर १ जनवरी १८७९ में अमेरिका में विशुद्ध स्वर्णमान पद्धति का अवलम्बन किया गया जिसमें स्वर्ण-टङ्कण का अविरोध स्वातन्त्र्य जनता को था।[1] इस प्रकार अमेरिका में इस पद्धति का परित्याग कुछ अंश में १८७३ में तथा पूर्णतः १८७९ में किया गया।

फ्रैंच तथा लैटिन मौद्रिक संघ के देशों में भी इस मान का अवलम्बन सन् १८०३ से १८७३ तक था। वहाँ का इस मान का इतिहास बहुत मनोरञ्जक है। १८०३ में फ्रान्स ने जब अपनी चलन-पद्धति को सङ्गठित किया उस समय वहाँ १५ : १ के अनुपात में द्विधातुमान पद्धति का अवलम्बन हुआ। किन्तु वहाँ भी विपणि-अनुपात तथा टङ्क-अनुपात की असमानता से कभी सोना अवमूल्यित होता था और कभी चाँदी। ऐसी अवस्था में वह धातु जनता द्वारा गला कर अन्य उपयोगों में लाई जाती थी। इस प्रकार ग्रेशम के सिद्धान्त के अनुसार वहाँ पर सदैव एक ही धातु की मुद्रा—खराब मुद्रा—चलन में रहती थी। इस प्रकार द्विधातुमान पद्धति कार्यान्वित रही किन्तु १८४८ से १८५९ के बीच आस्ट्रेलिया तथा केलिफोर्निया में नई सोने की खानों की खोज हुई। परिणामस्वरूप चाँदी की कीमत बाजार में घट गई और टङ्क पर उसका अधिमूल्यन हुआ, अतः चाँदी की मुद्रा ही चलन में रहने लगी तथा स्वर्ण-मुद्रा का लोप होने लगा। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए फ्रान्स ने इटली, बेलजियम और स्विटजरलैंड के साथ एक लैटिन मौद्रिक संघ बनाया, जहाँ द्विधातुमान पद्धति का अवलम्बन था। सन १८६८ में ग्रीस ने भी इस संघ की सदस्यता स्वीकार की। परन्तु फिर भी सांसारिक कारणों से इस संघ से स्वर्ण-मुद्रा का लोप होने लगा और धातु की अपेक्षा सिक्के में

---

1 'Gold and the Gold Standard' by Kemerrer.

कीमती धातु—चाँदी—का ही चलन रहा। इसके लिए दो कारण प्रमुख थे :— एक तो दुनिया के प्रमुख राष्ट्र चाँदी का परित्याग करके स्वर्णमान को अपना रहे थे तथा दूसरे, चाँदी की नई खानों के आविष्कार के कारण १८७२ के लगभग चाँदी का उत्पादन बढ़ रहा था अतः बाजार में सोने की तुलना में चाँदी की कीमतें बुरी तरह गिर रही थीं। इसलिए १८७४ में लैटिन मौद्रिक संघ ने भी चाँदी का अविरोध टङ्कण-स्वातन्त्र्य छीन लिया तथा विशुद्ध रूप में द्विधातुमान पद्धति वहाँ भी न रही।

इसी समय सन् १८७३ में विश्व में मन्दी आई जिससे वस्तुओं की कीमतें धड़ाधड़ गिरने लगीं और द्विधातुमान के समर्थकों ने अन्तर्राष्ट्रीय ढंग पर द्विधातुमान के उपयोग का प्रचार शुरू किया। उनका कहना था कि विनिमय कार्यों के लिए मुद्रा कम होने से कीमतें गिर रही हैं, यदि अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान का अवलम्बन किया जाय तो चाँदी की मुद्रा भी विनिमय-माध्यम का कार्य करेगी और क्रमशः कीमतें बढ़ने लगेंगी। किन्तु एकमान अथवा स्वर्णमान के समर्थक इससे सहमत नहीं थे। अतः द्विधातुमान का अवलम्बन करने के हेतु दो अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सभाएँ (Conferences) क्रमशः १८७८ और १८९२ में हुईं और इङ्गलैंड के कट्टर विरोध के कारण द्विधातुमान को अन्तर्राष्ट्रीय ढंग पर नहीं अपनाया गया अपितु इसका उसके बाद सदैव के लिए परित्याग कर दिया गया और १८९३ में भारत ने चाँदी का अविरोध टंकण-स्वातन्त्र्य छीन लिया तथा क्रमशः १८९२ और १८९३ में आस्ट्रिया, जापान और रूस ने भी स्वर्णमान का अवलम्बन किया। इस प्रकार १९वीं शताब्दि के अन्त में द्विधातुमान का परित्याग सदैव के लिए कर दिया गया क्योंकि देश में केवल खराब मुद्रा का ही चलन रहता है। इस प्रवृत्ति को ग्रेशम का सिद्धान्त कहते हैं।

ग्रेशम का मुद्रा-चलन सिद्धान्त

(Gresham's Law of Circulation of Money)

पिछले अध्यायों के विवेचन से अब यह स्पष्ट हो चुका है कि कोई भी वस्तु जो सर्वमान्य अथवा सर्वग्राह्य होती है वह मुद्रा के रूप में कार्य कर सकती है, अथवा ऐसी वस्तु जिसमें जनता का विश्वास हो एवं जो सर्वग्राह्य हो, अथवा जो किसी सरकार द्वारा मुद्रा के रूप में चलाई जाय एवं सरकार की साख में जनता का विश्वास हो तो वह मुद्रा के रूप में चलन में रहती है। इस प्रकार एक ही समय में सरकार द्वारा चलाई हुई मुद्राएँ कई प्रकार की हो सकती हैं ; जैसे द्विधातुमान पद्धति में स्वर्ण की तथा चाँदी की मुद्राएँ

एक साथ चलन में होती हैं अथवा एक ही धातु के नए एवं पुराने सिक्के एक ही साथ चलन में रहते हैं; अथवा धातु-मुद्रा एवं पत्र-मुद्रा एक ही समय प्रधान मुद्रा की तरह चलन में रहती हैं। ऐसे समय भिन्न-भिन्न प्रकार की मुद्राओं की ग्राह्यता (Acceptability) में भी भिन्नता होती है क्योंकि यह मानव प्रवृत्ति है कि जहाँ तक किसी वस्तु के लेने का सम्बन्ध है, वह हमेशा अच्छी वस्तु ही लेगा। यह प्रवृत्ति मुद्रा के बारे में भी लागू होती है। जहाँ तक पत्र-मुद्रा एवं धातु-मुद्रा उसे क्रयशक्ति के लिए अथवा विनिमय-माध्यम के लिए चाहिए, वह कोई भी मुद्रा ले लेगा। परन्तु जब वह मुद्राओं को किन्हीं अन्य कारणों के वशीभूत होकर संग्रह करेगा उस समय वह अच्छी मुद्रा ही लेगा अर्थात् ऐसी मुद्रा लेगा जो मुद्रा के अतिरिक्त धातु-मूल्य भी रखती हो। जहाँ मुद्राएँ धातु की हैं वहाँ पर जिस सिक्के का धातु-मूल्य मुद्रा-मूल्य से अधिक है, वह मुद्रा ही संग्रह में रखने का प्रयत्न करेगा अर्थात् किसी भी समय सिक्के के रूप में खराब मुद्रा चलन में रहेगी और अच्छी मुद्रा चलन से निकाल ली जायगी। इसी प्रवृत्ति को ग्रेशम का मुद्रा-चलन सिद्धान्त कहते हैं क्योंकि इस मानसिक प्रवृत्ति को सर टॉमस ग्रेशम नामक व्यक्ति ने अधिक स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया था।

सर टॉमस ग्रेशम लन्दन का एक प्रसिद्ध व्यापारी था। रॉयल एक्सचेंज की नींव भी इसी ने डाली थी। सम्राज्ञी एलिजाबेथ के राज्यकाल में अधिकतर ऐसी ही मुद्राएँ चलन में थीं जो या तो काटी हुई थीं या घिसी हुई थीं अथवा वजन में कम थीं। इस स्थिति को सुधारने के लिए नये सिक्के भी चलाये गये किन्तु फिर भी पुराने एवं घिसे हुए सिक्के चलन में रहे तथा नये सिक्के चलन से निकल गये। इसी प्रवृत्ति को ग्रेशम ने "खराब सिक्कों में अच्छे सिक्कों को चलन से निकाल देने की प्रवृत्ति होती है"[1], इन शब्दों में व्यक्त किया। उसने यह स्पष्ट किया कि जब चलन में अच्छे तथा पूर्ण वजन के सिक्के और पुराने तथा घिसे हुए सिक्के होते हैं उस समय देश में भुगतान के लिए दोनों एक ही मूल्य के होते हैं एवं विधिग्राह्य भी होते हैं इसलिए खराब सिक्के देश के भुगतान के लिए चलन में रह जाते हैं तथा अच्छे सिक्कों का जनता या तो संग्रह करती है, या गला कर उनको धातुरूप में बेचती है अथवा विदेशी भुगतान के लिए निर्यात करती है। चूँकि इस काम के लिए कम वजन के एवं खराब सिक्कों की अपेक्षा वजनी एवं विशुद्ध सिक्के ही अधिक लाभदायक होते हैं इसलिए यह नियम पूर्णरूप से किसी भी समय

---

[1] *Bad money tends to drive good money out of circulation.*

लागू होता है। इसी नियम को मार्शल ने "खराब मुद्राएँ यदि परिमाण में सीमित नहीं हैं, तो अच्छी मुद्राओं को चलन से बाहर निकाल देती हैं"[1], इन शब्दों में व्यक्त किया है। इसी को हम यों भी कह सकते हैं कि जब किसी देश में दो प्रकार की विधिग्राह्य मुद्राएँ होती हैं तो खराब मुद्राएँ अच्छी मुद्राओं को चलन से बाहर कर देती हैं, यदि मुद्राओं का परिमाण सीमित नहीं है।

अच्छी मुद्राएँ तीन प्रकार से चलन से बाहर निकलती हैं :—

१. संग्रह करके (Hoarding),

२. गला कर धातुरूप में बेचने से, तथा

३. विदेशी भुगतानों के लिए निर्यात करने से (Exporting for Payments to Foreigners)।

नियम लागू होने की परिस्थितियाँ

यह नियम तीन परिस्थितियों में किसी देश में लागू होता है :—

१. एक-धातुमान पद्धति में जब एक ही धातु की मुद्राएँ—जो वजन में अथवा विशुद्धता में भिन्न-भिन्न हैं किन्तु एक ही मूल्य रखती हैं—चलन में होती हैं उस समय कम वजन एवं कम विशुद्धता वाली धातु-मुद्राएँ (खराब मुद्राएँ) वजनी एवं विशुद्ध मुद्राओं को चलन से बाहर कर देती हैं। उदाहरणार्थ, भारत में विक्टोरिया के एवं जार्ज पंचम् के रुपये जब चलन में थे तब विक्टोरिया के रुपये में चाँदी का भाग जार्ज पंचम् वाले रुपयों से अधिक होने के कारण लोगों ने विक्टोरिया के रुपयों को संग्रह करना शुरू किया अर्थात् वे चलन से बाहर निकाल दिये गये। दूसरा उदाहरण एलिजाबेथ के राज्यकाल में मिलता है जिससे ग्रेशम ने इस नियम को स्पष्ट रूप दिया।

२. द्विधातुमान पद्धति में जब दो धातुओं की—चाँदी तथा सोने की—प्रमाणित मुद्राएँ निश्चित टंक-अनुपात से चलन में होती हैं; उस समय यदि विपणि-अनुपात (Market Ratio) में और टंक-अनुपात में अन्तर होता है तो टंक-अनुपात से अवमूल्यित होने वाली मुद्राएँ चलन से बाहर निकल जाती हैं तथा टंक-अनुपात में अधिमूल्यित मुद्राएँ (खराब मुद्राएँ) चलन में रहती हैं। इसका कारण यह है कि टंक-अनुपात पर अवमूल्यित मुद्रा का

---

[1] *An inferior currency, if not limited in quantity, will drive out the superior currency.*

धातु-मूल्य (Metallic Value) उसके वाह्य मूल्य (Face Value or Value as Money) से अधिक होता है इसलिए धातु के रूप में उनका संग्रह करना, गलाना अथवा निर्यात करना लाभदायक होता है। इसको हम यों भी कह सकते हैं कि एक विशेष अनुपात में जब चाँदी तथा सोने की प्रमाणित मुद्राएँ चलन में होती हैं तब जिस मुद्रा का धातु-मूल्य उसके वाह्य मूल्य से अधिक होता है, अर्थात् जो अच्छी मुद्रा होती है वह उस मुद्रा द्वारा जिसका धातु-मूल्य वाह्य मूल्य से कम होता है, अर्थात् खराब मुद्रा द्वारा, बाहर निकाल दी जाती है। उदाहरणार्थ, जैसा कि द्विधातुमान पद्धति में फ्रान्स, अमेरिका आदि राष्ट्रों में हुआ।

२. जब किसी देश में पत्र-मुद्रा एवं धातु-मुद्रा प्रमाणित सिक्कों के रूप में चलन में होती है, उस समय पत्र-मुद्रा खराब मुद्रा होने के कारण धातु-मुद्रा (अच्छी मुद्रा) को चलन से बाहर कर देती है। उदाहरणार्थ, १९१४-१९१८ में इंग्लैण्ड में चलन में केवल पत्र-मुद्राएँ रह गईं और स्वर्ण-मुद्राएँ चलन से निकाल दी गई थीं। यदि पत्र-मुद्रा का अवमूल्यन (Depreciation) हो तो यह प्रवृत्ति अधिक तीव्रतर होती है। उदाहरणार्थ, १९३१ में जब सोने की कीमतें बढ़ रही थीं उस समय सावरिनों की धातु के रूप में धड़ल्के से बिक्री हुई थी।

आधुनिक समय में ग्रेशम के सिद्धान्त की प्रतिक्रिया को रोकने के लिए सरकार द्वारा चलित मुद्रा का नियमन होता है तथा खराब मुद्रा को ढालकर फिर से नई मुद्राओं में परिवर्तित किया जाता है। अतः कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार आधुनिक काल में यह सिद्धान्त बिल्कुल लागू नहीं हो सकता क्योंकि उनका कहना है कि मध्य युग तथा ग्रेशम के समय में अवैज्ञानिक मौद्रिक पद्धति होने के कारण ही वह लागू होता था परन्तु यह सिद्धान्त उपर्युक्त परिस्थितियों में किसी भी समय लागू हो सकता है जैसा द्विधातुमान के १९वीं शताब्दि के इतिहास से, १९३१ के इंगलैण्ड के उदाहरण से स्पष्ट है। इसी प्रकार प्रथम महायुद्ध के समय भी पत्र-मुद्राओं का अवमूल्यन होने के कारण धातु-मुद्राएँ चलन से निकाल दी गई थीं।

सिद्धान्त की मर्यादा (Limitation of the Law) : ग्रेशम का सिद्धान्त उपर्युक्त तीन परिस्थितियों में भी लागू नहीं हो सकता क्योंकि उसके लिए भी निम्नलिखित मर्यादाएँ हैं :—

१. दोनों प्रकार की मुद्राओं का चलन मुद्रा की माँग से अधिक नहीं है अर्थात् यदि किसी भी समय विनिमय कार्य के लिए १०० मुद्राएँ

आवश्यक हैं और चलन में भी अच्छी एवं खराब मिलाकर १०० मुद्राओं का ही चलन है तो यह सिद्धान्त लागू नहीं होगा।

२. यदि खराब मुद्राओं के चलन का जनता विरोध करती है तथा उसको वस्तुओं और ऋणों आदि के भुगतान में लेने से इन्कार करती है तो यह सिद्धान्त लागू नहीं होगा, जैसा कि केलिफोर्निया और संयुक्त राष्ट्र की जनता ने अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा (ग्रीन बक्स) को लेने से १८६१-१८६५ में अस्वीकार कर दिया था।

३. टॉमस[1] के अनुसार खराब मुद्रा का यदि इस प्रकार क्रमशः अवमूल्यन किया गया कि जनता उसे समझ न पाये, तो इस स्थिति में यह नियम उस समय तक लागू नहीं होगा जब तक अवमूल्यन जनता की समझ में नहीं आता।[2]

द्विधातुमान पद्धति से लाभ : द्विधातुमान पद्धति के इतिहास से यह स्पष्ट है कि अब इस प्रकार का मान केवल एक ऐतिहासिक अवशेष के रूप में है किन्तु १९वीं शताब्दि में यह बहुत महत्त्वपूर्ण था तथा इसका अवलम्बन करने का प्रचार इसके समर्थकों ने बहुत किया। इसके समर्थकों के अनुसार इस मान से नीचे दिये हुए लाभ होते हैं :—

१ क्रयशक्ति की स्थिरता अथवा मुद्रा के मूल्य में स्थिरता रहना, यह अच्छी मान-पद्धति का मुख्य गुण है। द्विधातुमान पद्धति में अन्तर्राष्ट्रीय प्रयोग से सोने तथा चाँदी की मुद्राएँ चलन में रहेंगी तब किसी भी एक धातु का अभाव दूसरी धातु के अधिक उत्पादन से पूरा हो सकेगा; परिमाणस्वरूप दोनों धातुओं की मुद्राओं की क्रयशक्ति में स्थिरता रहेगी। उदाहरणार्थ, दो पियक्कड़ आदमी जब एक-दूसरे के सहारे चलते हैं तो वे एक-दूसरे को गिरने से बचाते हैं, इसी प्रकार सोने का अभाव चाँदी के अधिक उत्पादन से अथवा चाँदी का अभाव सोने के अधिक उत्पादन से दूर होकर मूल्यों में स्थैर्य बना रहता है। दूसरे, दोनों धातुओं की मुद्राएँ प्रमाणित मुद्राओं के रूप में चलन में होने से मुद्रा का परिमाण अधिक रहता है और इस में यदि कुछ मुद्राएँ चलन में अधिक भी हो जाएँ तो उसका मूल्यों पर बहुत कम मात्रा में परिणाम होता है।

---

[1] *'Banking and Exchange' by Evelyn Thomas.*

[2] *"Bad money will not drive out good if the depreciation of the currency is so gradual as not to be noticed by the public until it has reached an advanced stage."* —*Money and Exchange.*

२. इस पद्धति में मुद्राओं का परिमाण अधिक होने से कीमतें ऊँची रहती है जिससे उत्पादकों को लाभ होकर उत्पादन कार्य को प्रोत्साहन मिलता है। चूँकि १८७३ में बाजारों में मन्दी आई और वस्तुओं की कीमतें गिरने लगीं क्योंकि सोने की पूर्ति आवश्यकतानुसार नहीं थी, इसलिए इस पद्धति के समर्थकों के अनुसार यदि अन्तर्राष्ट्रीय ढंग पर इस पद्धति का अवलम्बन किया जाता तो दोनों धातुओं की मुद्राएँ चलन में होने से मुद्रा-परिमाण अधिक होता और कीमतें बढ़ जातीं जिससे उत्पादन कार्य को प्रोत्साहन मिलता तथा मन्दी का निवारण होता। दूसरे, कीमतों के बढ़ने से अधमर्णों को भी लाभ होता है।

३. इस पद्धति में स्वर्ण तथा चाँदी की प्रमाणित मुद्राएँ होने के कारण विदेशी व्यापार में वृद्धि होती है क्योंकि दोनों ही मुद्राएँ प्रमाणित होने के कारण स्वर्णमान रखने वाले राष्ट्रों तथा रौप्यमान रखने वाले राष्ट्रों में व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो सकते हैं। इसी के साथ ऐसे देशों की विनिमय-दर में भी स्थिरता रखी जा सकती है।

४. इस पद्धति में दोनों धातुओं की मुद्राएँ प्रमाणित होने के कारण अधिकोषों को अपने निधि की व्यवस्था एवं संचालन करने में मितव्ययिता होती है तथा मुद्रा का चलन अधिक होने के कारण अधिकोषों के ब्याज की दर भी कम होती है।

द्विधातुमान पद्धति से हानियाँ : १. ग्रेशम का चलित-मुद्रा सिद्धान्त लागू होने से द्विधातुमान वाले राष्ट्रों में केवल एक ही मुद्रा—वह भी खराब मुद्रा—चलन में रहती है क्योंकि दोनों धातुओं के टंक-अनुपात तथा विपणि-अनुपात में समानता नहीं रहती।

२. जब विपणि-अनुपात एवं टंक-अनुपात में अन्तर होता है उस समय उत्तमर्ण अपने ऋणों का भुगतान अच्छी मुद्रा में अथवा महँगी धातु में लेना पसन्द करते हैं और दूसरी ओर अधमर्ण खराब मुद्रा में अथवा सस्ती धातु में भुगतान करना चाहते हैं जिससे लेन-देन में कठिनाइयाँ होती हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान : उपर्युक्त लाभ-दोषों के अतिरिक्त यदि अन्तर्राष्ट्रीय ढंग पर और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से द्विधातुमान पद्धति का अवलम्बन किया जाय तो ग्रेशम का सिद्धान्त लागू नहीं होगा क्योंकि उस दशा में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से दोनों धातुओं के विपणि एवं टंक-अनुपात में समानता रखी जा सकती है। उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान में किसी

एक धातु की मुद्राओं की न्यूनता का समायोजन (Compensation) दूसरी धातुओं की मुद्राओं की अधिकता से हो जाता है, अतः अन्तर्राष्ट्रीय समझौते पर इस मान-पद्धति का अवलम्बन किया जा सकता है। इस मान का अन्तर्राष्ट्रीय अवलम्बन करने के लिए दो मौद्रिक परिषदें भी बुलाई गई थीं (१८७८ और १८९२ में) जिनमें इंगलैंड के विरोध से तथा अन्य व्यवहारिक (Practical) कठिनाइयों के कारण इसका अवलम्बन नहीं हुआ।

अन्य मौद्रिक मान

उपर्युक्त मान-पद्धतियों के अतिरिक्त समानान्तर अथवा समानुपात-मान पद्धति (Parallel Standard), निर्देशाङ्क-मान पद्धति (Index Number or Tabular Standard), विनिमय-मान (Exchange Standard) तथा अशुद्ध द्विधातुमान पद्धति आदि अन्य मौद्रिक मान हैं जिनका अब हम विवेचन करेंगे।

१. अशुद्ध द्विधातुमान पद्धति (Limping Standard) : इस पद्धति में द्विधातुमान पद्धति की तरह सोना तथा चाँदी दोनों की मुद्राएं मूल्य-मापक तथा विनिमय-माध्यम होती हैं और दोनों मुद्राएँ प्रमाणित होती हैं किन्तु एक धातु की मुद्राओं का टङ्कण-स्वातन्त्र्य जनता को न होते हुए सरकार के एकाधिकार में होता है। बहुधा सोने की मुद्राओं का मुक्त टङ्कण-स्वातन्त्र्य होता है तथा चाँदी की मुद्राओं का टङ्कण केवल सरकार द्वारा ही होता है अर्थात् चाँदी की मुद्राएं प्रमाणित होते हुए भी जनता उनका टङ्कण कराने के लिए स्वतन्त्र नहीं होती। १८०३ में फ्रान्स में जब चाँदी की मुद्राओं का मुक्त टङ्कण-स्वातन्त्र्य छीन लिया गया था तथा सोने के टङ्कण के लिए जनता स्वतन्त्र थी उस समय वहाँ यही पद्धति थी।

२. समानान्तर अथवा समानुपात-मान पद्धति (Parallel Standard) : इस पद्धति में स्वर्ण एवं चाँदी की मुद्राओं का मुक्त टङ्कण होता है एवं दोनों धातुओं की प्रमाणित मुद्राएँ होती हैं। किन्तु द्विधातुमान की तरह इन में निश्चित टङ्कण-अनुपात नहीं होता बल्कि वह टङ्क-अधिकारियों द्वारा समय-समय पर विपणि-अनुपात की तुलना में लाया जाता है। इस पद्धति में चाँदी के बदले सोने की मुद्राएं बाजार भाव पर ही बदली जाती हैं, इससे ग्रेशम का सिद्धान्त लागू नहीं हो सकता।

३. निर्देशाङ्क-मान पद्धति (Tabular or Index Number Standard) : इस पद्धति में उस देश की चलित-मुद्रा का मूल्य स्थिर रखने के हेतु निर्देशाङ्क बनाये जाते हैं जिनके द्वारा आधार-वर्ष की कीमतों की तुलना कर मुद्रा का मूल्य निश्चित किया जाता है। इसका कारण यह है कि इस प्रकार कीमतों के अनुसार मुद्रा का मूल्य सदैव एकसा ही बना रहेगा जिससे अधमर्ण-उत्तमर्णों के लेन-देन में समता रहेगी और किसी को हानि नहीं होगी। किन्तु इसमें अनेक अड़चनें आती हैं जिससे इसका महत्त्व केवल सैद्धान्तिक (Theoretical) ही है, व्यवहारिक (Practical) नहीं क्योंकि निर्देशाङ्क मूल्य-स्तर का माध्यम बताते हैं किन्तु वे पूर्णतः ठीक नहीं होते अतः वास्तविक स्थिति को दिग्दर्शित करने में असमर्थ होते हैं। आधार-वर्ष के मूल्य-स्तर पर निर्भर होने के कारण आधुनिक कारणों का, जिससे कीमतों में उतार-चढ़ाव हुआ, विश्लेषण करने में असमर्थ होने से आधुनिक समय में उनका उपयोग समता नहीं ला सकता। तीसरे, देश की सरकार को निर्देशाङ्क संख्याएँ पुनः पुनः बनानी पड़ेंगी तथा इनको अद्यावत् (Up-to-date) करना पड़ेगा जो असम्भव सा प्रतीत होता है। इन कठिनाइयों के कारण ही इसका कभी भी प्रयोग न हो सका।

४. धातु-मिश्रित-मान पद्धति (Symetallism) : इसका प्रचार सन् १८८६ में प्रो० मार्शल ने किया था। इस पद्धति के अनुसार सोने तथा चाँदी को निश्चित परिमाण में मिलाकर इस मिश्रित धातु की मुद्रा का चलन हो तथा इस मुद्रा के बदले में सरकार एक निश्चित दर पर पत्र-मुद्राएँ दे अथवा ले। इस पद्धति के अनुसार एक पत्र-मुद्रा के बदले किसी भी व्यक्ति को दोनों ही धातुएँ लेनी पड़ेंगी जिससे ग्रेशम का सिद्धान्त लागू नहीं हो सकेगा। यह पद्धति भी सैद्धान्तिक ही है।

५. विनिमय-मान पद्धति (Exchange Standard) : इस पद्धति में देश के अन्तर्गत व्यवहारों में चाँदी अथवा कागज की गौण मुद्रा उपयोग में होती है तथा विदेशी विनिमय के लिए उसका सम्बन्ध किसी दूसरे देश के सिक्के से निश्चित दर पर जोड़ दिया जाता है और उसे सरकार हमेशा समानता पर रखने का प्रयत्न करती है। यह आवश्यक नहीं कि दूसरे देश की मुद्रा स्वर्णमान पर ही हो। इस प्रकार के दो देशों के सिक्कों के गठबन्धन को विनिमय-मान पद्धति कहते हैं तथा जिस सिक्के से यह गठबन्धन होता है उस सिक्के का नाम पहिले जोड़ दिया जाता है; उदाहरणार्थ, स्टर्लिङ्ग-विनिमय पद्धति, जिससे भारतीय प्रतीक मुद्रा (रुपया) का मूल्य स्टर्लिङ्ग से १ शि० ६ पेंस की दर से स्थापित है।

इसमें सबसे बड़ी हानि यह है कि जिस देश की मुद्रा से ऐसा विनिमय सम्बन्ध स्थापित किया जाता है उस देश की आर्थिक परिस्थिति का प्रभाव अपने देश की स्थिति पर भी पड़ता है और दूसरे, विदेशी विनिमय के लिए दोनों देशों को एक-दूसरे की मुद्राएँ अपने-अपने निधि में रखनी पड़ती हैं।

६. अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा-मान पद्धति (Paper Currency Standard or Managed Currency Standard): इस पद्धति में देश में मूल्यमापक तथा विनिमय-माध्यम का कार्य पत्र-मुद्रा ही करती है जिसका मूल्य किसी भी धातु से निश्चित नहीं किया जाता। इस प्रकार की पत्र-मुद्रा युद्ध-काल में अथवा सङ्कटमय स्थिति में चलन में आती है। इस पद्धति के मुख्य लक्षण निम्नलिखित हैं :—

१. पत्र-मुद्रा ही प्रमाणित मुद्रा होती है एवम् असीमित विधिग्राह्य होती है।

२. पत्र-मुद्रा का मूल्य स्वर्ण अथवा अन्य किसी धातु से निश्चित नहीं किया जाता और न इसका स्वर्ण में किसी भी कार्य के लिए परिवर्तन ही हो सकता है।

३. पत्र-मुद्रा-संचालक अधिकोप अथवा सरकार चलन को इस प्रकार कम या अधिक करती है जिससे मूल्य-स्तर में समानता रहे। अर्थात् मूल्य-स्तर में समानता रखने के लिए, सरकार द्वारा अथवा मुद्रा-संचालक अधिकोप द्वारा चलन का नियमन (Management) किया जाता है।

४. विदेशी ऋणों के भुगतान के लिए देश में स्वर्ण-निधि की आवश्यकता होती है किन्तु आजकल अन्तर्राष्ट्रीय अधिकोप द्वारा ऋणों के भुगतान होने के कारण ऐसे किसी भी निधि की आवश्यकता नहीं पड़ती। (इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय अधिकोष के मार्फत ऋणों का भुगतान करने की व्यवस्था द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त १९४७ के लगभग की गई है।)

इस पद्धति के अनेक दोष हैं: पहले, पत्र-मुद्रा किसी धातु विशेष से सम्बन्धित न होने के कारण चलनाधिक्य (Over-issue) होने की सम्भावना रहती है।

दूसरे, किसी भी हद तक मूल्य-स्तरों में परिवर्तन हो सकता है क्योंकि मुद्रा का नियमन धातु-निधि पर निर्भर नहीं रहता।

तीसरे, पत्र-मुद्रा राष्ट्रीय मुद्रा होने के नाते अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अनेक अड़चनें उपस्थित होती हैं क्योंकि देश के मूल्य-स्तर में सदैव उतार-चढ़ाव (Fluctuation) होता रहता है।

चौथे, जब सभी देशों में पत्र-मुद्रा-मान होता है उस समय किसी भी देश की आर्थिक परिस्थिति का परिणाम अन्य देशों की आर्थिक स्थिति पर होता है।

पत्र-मुद्रा-मान पद्धति की ये कठिनाइयाँ अन्तर्राष्ट्रीय अधिकोष (International Bank for Reconstruction and Development) की स्थापना होने से दूर हो गई हैं क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान अब इसी अधिकोष द्वारा होता है तथा प्रत्येक देश की मुद्रा का निश्चित स्वर्ण-मूल्य भी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-निधि (International Monetary Fund) द्वारा निश्चित कर दिया गया है जिसके कारण पत्र-मुद्रा-मान पद्धति होते हुए भी स्वर्णमान के सब लाभ अब प्राप्त हो सकते हैं।

भारतीय मौद्रिक मान : भारत में आजकल स्टर्लिङ्ग-विनिमय-मान पद्धति है। इसका सम्पूर्ण विवेचन "भारतीय चलन का इतिहास" नामक अध्याय में हम आगे करेंगे। इस पद्धति में भारत में पत्र-मुद्रा तथा निकिल के रुपये—जिनके सब लक्षण गौण मुद्रा के हैं—प्रमाणित मुद्रा की तरह चलन में हैं जो असीमित विधिग्राह्य हैं। रुपये का गठबन्धन विदेशी विनिमय की सुविधा के लिए स्टर्लिङ्ग से १८ पेंस प्रति रुपये की दर से किया गया है तथा इस दर को स्थिर रखने की जिम्मेदारी रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया पर है। रुपया ही हमारे यहाँ मूल्यमापक तथा विनिमय-माध्यम है जिसके बदले में किसी भी समय पत्र-मुद्राएँ तथा अन्य गौण मुद्राएँ ली जा सकती हैं तथा विदेशी विनिमय के लिए उसे स्टर्लिङ्ग में बदला जा सकता है जो कायदे से इङ्गलैंड की अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा है एवं जिसका १९४७ तक स्वर्ण से कोई सम्बन्ध नहीं था। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-निधि के द्वारा अब प्रत्येक देश के चलन को स्वर्ण में निश्चित-मूल्य दिया गया है जिसके अनुसार रुपये का स्वर्ण-मूल्य ०·२६८६०१ ग्राम निश्चित किया गया था। इस प्रकार आज भी भारत में स्टर्लिङ्ग-विनिमय-मान पद्धति है।

प्रश्न

१. अच्छी मुद्रा-मान पद्धति में कौनसे आवश्यक गुण होने चाहिएँ ?
२. द्विधातुमान पद्धति में कौनसे गुण दोष हैं ? क्या अन्तर्राष्ट्रीय ढंग पर यह पद्धति अपनाई जा सकती है ?
३. स्वर्णमान पद्धति क्या है व कितने प्रकार की है ? उनके परस्पर गुण-दोष बताइये।

४. टिप्पणियाँ लिखिये :—

(१) समानुपात-मान पद्धति,
(२) धातु-मिश्रित-मान पद्धति,
(३) निर्देशाङ्क-मान पद्धति,
(४) अशुद्ध द्विधातुमान पद्धति,
(५) विनिमय-मान पद्धति ।

५. ग्रेशम का चलित-मुद्रा सिद्धान्त क्या है ? उसके लागू होने की परिस्थिति तथा मर्यादाएँ कौनसी हैं ?

६. पत्र-मुद्रा-मान पद्धति के लक्षण बताकर, उसके गुण-दोष का विवेचन कीजिए ।

७. भारत में कौनसी मान-पद्धति है ? उसके लक्षण क्या हैं ? स्पष्ट लिखिये ।

अध्याय ६

स्वर्णमान पद्धति का इतिहास एवं भविष्य

स्वर्णमान ही क्यों ?

पिछले अध्याय में हमने देखा कि द्विधातुमान की अनेक कठिनाइयों के कारण तथा चाँदी की कीमतों में अधिक अन्तर होते रहने के कारण उस पद्धति का परित्याग कर दिया गया तथा दुनिया के प्रमुख देशों में स्वर्णमान का अवलम्बन किया गया। स्वर्ण की विजय के चार प्रमुख कारण हैं :—

पहिले तो यह कि चाँदी की अपेक्षा सोने में थोड़े ही आकार में अधिक मूल्य रहता है इससे उसमें एक जगह से दूसरी जगह ले जाने में खर्च की कमी तथा सरलता होती है।

दूसरे, १९वीं शताब्दि में चाँदी के मूल्य में सोने के मूल्य की तुलना में अति शीघ्र परिवर्तन हुए परन्तु सोने के मूल्य में स्थिरता बनी रही अर्थात् १८१६ से, जब इंग्लैंड में इस मान का अवलम्बन किया गया, १९१४ तक मूल्य-स्तर में समानता रही।

तीसरे, अन्य वस्तुओं की तरह सोने की कीमतों पर उसके उत्पादन का कोई प्रभाव नहीं पड़ता अर्थात् सोने का उत्पादन बढ़ने से न तो सोने की कीमत घटती है और न उत्पादन कम होने से कीमत बढ़ती ही है क्योंकि टकसाल में उसके क्रय-विक्रय का मूल्य निश्चित ही रहता है। हाँ, उसके उत्पादन का प्रभाव थोड़ा-सा वस्तुओं के मूल्य-स्तर पर अवश्य होता है क्योंकि स्वर्णमान में सोने की कीमत निश्चित की जाती थी किन्तु उसका मूल्य नहीं निश्चित किया जा सकता।

चौथे, स्वर्ण की विपणि (Market) असीमित थी अर्थात् सोने की निश्चित कीमतों पर सोना कहीं से भी खरीदा जाता था तथा बेचा भी

जाता था। इन कारणों से ही स्वर्णमान का उपयोग विशेष रूप से यशस्वी हुआ।[1]

१९१४ तक

उपर्युक्त कारणों से स्वर्णमान की १९वीं शताब्दि में विजय हुई और विश्व के प्रमुख राष्ट्रों में इसे अपनाया गया। फिर १८९२ तक द्विधातुमान पद्धति के अपनाने के लिए चर्चाएँ तथा परिषदें होती रहीं जिनका अन्त इसी काल में हुआ। १९१४–१९१९ की लड़ाई के प्रारम्भ तक इङ्गलैंड, अमेरिका आदि प्रमुख राष्ट्रों में स्वर्ण-चलन पद्धति का ही अवलम्बन था जिसमें स्वर्ण मूल्यमापक था तथा उसकी मुद्राएँ चलन में थीं जो असीमित विधिग्राह्य थीं एवं उनका टंकण-स्वातन्त्र्य मुक्त था अर्थात् सोने के सिक्के पूर्णतः प्रमाणित सिक्के थे। इन्हीं से देश की अन्य गौण मुद्राओं का मूल्य-सम्बन्ध था। विदेशी विनिमय का आधार भी स्वर्ण ही था। अर्थात् स्वर्ण की समता पर देश-विदेशों में ऋणों का भुगतान होता था और इनकी विनिमय-दर स्वर्ण-निर्यात विन्दु तथा स्वर्ण-आयात विन्दु (Gold Export Point and Gold Import Point) के बीच बदलती रहती थी। स्वर्ण की घिसावट से होने वाली हानि बचाने के लिए सब देशों में स्वर्ण-चलन के बदले पत्र-चलन था जो किसी भी समय स्वर्ण में परिवर्तित किया जा सकता था जिसके लिए पत्र-सञ्चालक अधिकोष अपने पास स्वर्ण-निधि रखते थे। किन्तु प्रत्येक अधिकोष जो साखमुद्रा का प्रसार करता था उसे स्वर्ण-निधि रखना पड़ता था जिससे देश का सोना अधिक मात्रा में निधि में ही रहता था इसलिए इसमें मितव्ययिता करने के उद्देश्य से निधि का केन्द्रीकरण (Centralisation of Reserve) करना उचित समझा गया जिसके लिए प्रत्येक देश में केन्द्रीय अधिकोषों की स्थापना की गई जो साख-मुद्रा तथा पत्र-मुद्रा का नियमन एवं नियन्त्रण करते थे तथा स्वर्ण-निधि का नियमन भी करते थे। इन्हीं के हाथों सोने का क्रय-विक्रय एक निश्चित दर से किया जाता था। इसी के साथ स्वर्ण-विपणि खुली होने के कारण अथवा अन्तर्राष्ट्रीय विपणि में सोने की खरीद अथवा बिक्री पर किसी भी प्रकार की रोक न होने के कारण इस मान में स्वयंपूर्ण कार्यशीलता (Automatic Working) थी जिसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अपने आप वस्तुओं के मूल्य-स्तरों में समानता

---

[1] *For detailed reference see 'Gold and the Gold Standard' by* E. W. Kemerrer

रखी जाती थी। उदाहरणार्थ, यदि किसी भी देश की मुद्रा की विनिमय-दर में वृद्धि होती थी तो उस देश की कीमतें अन्य देशों की अपेक्षा महँगी होने के कारण वहाँ निर्यात अधिक हो जाता था, उसी प्रकार दूसरे देशों की कीमतें उस देश की अपेक्षा कम होने से विदेशों से माल वहाँ अधिक आता था; परिणामस्वरूप वह देश ऋणी हो जाता था तथा उसे सोना विदेशों में ऋण-भुगतान के लिए देना पड़ता था अथवा विदेशी मुद्रा की माँग बढ़ जाती थी जिसके कारण विदेशी मुद्रा की कीमतें भी बढ़ती थीं और इस प्रकार मूल्य-स्तर में समानता आ जाती थी तथा विनिमय-दर में भी समानता रखी जाती थी। इस प्रकार इस पद्धति में स्वयंपूर्ण कार्यशीलता थी।

प्रथम महायुद्ध के पूर्व एक दूसरे रूप में भी स्वर्णमान का उपयोग होता था। इस मान का मूल हेतु स्वर्ण के उपयोग में मितव्ययिता लाना तथा स्वर्णमान वाले व रौप्यमान वाले राष्ट्रों की विनिमय-दर में स्थिरता रखना था जिससे रौप्यमान वाले राष्ट्रों में भी विदेशी व्यापार बढ़ाया जा सके। इस पद्धति में सोने के सिक्के चलन में नहीं रहते बल्कि देशी व्यापारिक व्यवहारों में चाँदी के सिक्के तथा पत्र-मुद्रा का उपयोग होता है जो असीमित विधिग्राह्य होती हैं। इन मुद्राओं को किसी ऐसे देश की मुद्रा से सम्बन्धित किया जाता है जो स्वर्णमान पर हो। देशी कामों के लिए ये मुद्राएँ सोने में परिवर्तित नहीं होतीं किन्तु विदेशी भुगतान के लिए सरकार सोना अथवा विदेशी मुद्राएँ देने के लिए बाध्य होती है। इस पद्धति को स्वर्ण-विनिमय पद्धति कहते हैं। यह भारत में १८९८ से १९१८ तक प्रयोग में थी। अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में भी सोना विनिमय-माध्यम के रूप में काम आता है किन्तु वस्तुओं की खरीद-बिक्री के लिए नहीं बल्कि विदेशी चलन की खरीद-बिक्री के लिए। अतः इसमें केन्द्रीय अधिकोषों को विदेशी विनिमय में निधि रखना पड़ता है जिससे वे विदेशी भुगतान के लिए देशी मुद्रा के बदले विदेशी विनिमय दे सकें। उसी प्रकार विदेशी अधिकोषों में स्वर्ण-निधि रखना पड़ता है जिसमें से विदेशी अधमर्णों को आवश्यकता के समय भुगतान किया जाय।

इस पद्धति का अवलम्बन जावा, भारत, आस्ट्रिया और हंगरी, इन देशों में १९वीं शताब्दि के अन्त में था तथा १९२० से १९३० तक के काल में अधिकांश देशों में था। इसकी कार्य-पद्धति दो प्रकार की है—एक तो उन देशों में विनिमय-दर स्थापित करना जो स्वर्णमान पर हैं अथवा जिनका चलन स्वर्ण से सम्बन्धित है; दूसरे, ऐसे देशों में विनिमय-दर स्थापित करना

जिनमें एक देश स्वर्ण पर तथा दूसरा देश चाँदी पर आधारित है जैसे भारत तथा इंग्लैंड। भारत की स्वर्ण-विनिमय पद्धति दूसरे प्रकार की थी जिसे शुद्ध रूप में स्वर्ण-विनिमय-मान नहीं कहा जा सकता किन्तु विनिमय-मान कहा जा सकता था क्योंकि भारतीय रुपये का गठबन्धन एक निश्चित दर पर (१८ पेंस प्रति रुपया) किया गया था और स्टर्लिंग स्वर्ण पर आधारित होने के कारण ही हमारी पद्धति को स्वर्ण-विनिमय-मान कहा जाता था। इसमें विनिमय-दर की स्थिरता के लिए केन्द्रीय अधिकोष अथवा सरकार द्वारा हस्तक्षेप की आवश्यकता रहती है इसलिए यह पूर्णरूप से स्वयंपूर्ण कार्यशील नहीं है।

स्वर्ण-विनिमय-मान की कार्य-पद्धति

इस पद्धति में विनिमय-मान वाले देश का केन्द्रीय अधिकोष स्वर्णमान वाले देश के केन्द्रीय अधिकोष के सहयोग से इस पद्धति का नियन्त्रण करता है। विनिमय-मान वाले देश का केन्द्रीय अधिकोष स्वर्णमान वाले देश के केन्द्रीय अधिकोष में स्वर्ण-निधि रखता है जिसमें से वह उस देश का विदेशी विनिमय निश्चित दर पर खरीदता है तथा वेचता है और उसका ध्येय यही रहता है कि विनिमय-दर में सदैव स्थिरता बनी रहे। इसी प्रकार का निधि "पत्र-चलन-निधि" वाले देश का केन्द्रीय अधिकोष अपने पास रखता है जिसमे से विदेशियों की माँग की पूर्ति उस देश के अधमर्णों के भुगतान के लिए की जाती है। इस पद्धति मे केन्द्रीय अधिकोष चलन के प्रसार एवं संकोचन द्वारा विदेशी विनिमय की दर का नियमन करता है। भारतीय स्वर्ण-विनिमय-मान की कार्य-पद्धति से इसका रूप हम पूर्णतः समझ सकते हैं।

जब भारत में स्वर्ण-विनिमय-मान था उस समय भारतीय सरकार पर विदेशी ऋणों का भुगतान स्वर्ण में करने की वैधानिक जिम्मेदारी थी; उसी प्रकार इङ्गलैंड के आयात व्यापारियों को उनके भारतीय अधमर्णों को रुपये चुकाने की जिम्मेदारी इङ्गलैंड में भारत-सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट) पर थी। इस प्रकार यह चलन-पद्धति सर्वतः सरकार की व्यवस्था एवं देखरेख में थी जिनमें सेक्रेटरी ऑफ स्टेट तथा भारतीय सरकार दो अधिकोषों का कार्य करते थे। आन्तरिक व्यापारों तथा विनिमय के लिए रुपया ही प्रमाणित एवं असीमित ग्राह्य मुद्रा थी तथा बाह्य विनिमय (External Exchanges) के लिए रुपया स्वर्ण-मुद्रा के रूप मे था जिसका मूल्य १ शि० ४ पेंस निश्चित किया गया था।

भारत के विदेशी व्यापार का शेष सदा हमारे पक्ष में ही रहता था किन्तु हमें प्रति वर्ष ब्याज तथा अन्य खर्चों के लिए इङ्गलैंड को कुछ रकम वार्षिक देनी पड़ती थी जिसे घर-खर्च (Home Charges) कहते हैं। अतः इनका भुगतान या तो दोनों देशों से एक-दूसरे को सोना भेजकर हो सकता था—जो खर्चीला तथा असुविधाजनक तरीका था—अथवा दूसरा तरीका यह था कि भारत-सचिव भारत की ओर से इङ्गलैंड के अधमर्णों से सोना लेकर बदले में उन्हें रुपया-विपत्र (Rupee Bills or Council Bills) दे जिनका भुगतान भारत सरकार करे। इस प्रकार जो रकम भारत-सचिव के पास आती थी उसमें से घर-खर्च निकाल कर बाकी रकम भारत सरकार के नाम जमा करदी जाती थी। अंग्रेज अधमर्ण भारतीय उत्तमर्णों को ये रुपया-विपत्र भेज देते थे जिनका भुगतान सरकारी खजाने से उनके अधिकोष के मार्फत उनको भारतीय मुद्राओं में किया जाता था। इस प्रकार भारतीय उत्तमर्णों का तथा अंग्रेजी सरकार के घर-खर्च का भुगतान परस्पर हो जाता था। जो शेष रकम भारत सरकार के नाम इङ्गलैंड में रहती थी उसका उपयोग भारत सरकार अपने अन्य खर्चों के लिए करती थी। इसी प्रकार जब अंग्रेज उत्तमर्णों को भुगतान करने की आवश्यकता पड़ती थी उस समय भारत सरकार रुपये के बदले में १६ पेंस की दर से भारतीय उत्तमर्णों को स्टर्लिंग-विपत्र (Sterling Bills or Reverse Council Bills) बेचती थी, जो भारतीय अधमर्ण अपने उत्तमर्णों को इङ्गलैंड में भेज देते थे। इनका भुगतान भारत-सचिव द्वारा अंग्रेज उत्तमर्णों को हुण्डी के बदले स्टर्लिंग देकर किया जाता था। यह पद्धति हमारे यहाँ १९१४ तक इसी प्रकार कार्य करती थी।

यह पद्धति तभी तक अच्छे ढंग पर कार्य कर सकती है जब तक उस देश की परिस्थिति अच्छी है जिसमें स्वर्ण-निधि रखा गया है। परन्तु वहाँ की आर्थिक परिस्थिति खराब होते ही उन घटनाओं का प्रभाव दूसरे देश की आर्थिक स्थिति पर पड़ता है जिससे विनिमय-दर में स्थिरता नहीं रहती और न विदेशी विनिमय-दर का नियमन ही ठीक प्रकार से होता है। और यही आगे चलकर हुआ भी !

१९१४ से १९१९ तक

१९१४ में जब महायुद्ध प्रारम्भ हुआ उस समय कुल ५९ देश (स्वर्ण-विनिमय वाले देशों को मिलाकर) स्वर्णमान पद्धति पर थे। युद्धकाल के

प्रारम्भ के दो-तीन वर्षों में ही स्वर्णमान परित्याग कर दिया गया और लगभग सभी देशों में अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा का चलन हो गया क्योंकि युद्धजन्य परिस्थितियों के कारण मुद्रा की आवश्यकता बढ़ गई थी जिसे पूरा करने का यही एकमात्र उपाय उपलब्ध था। सबसे पहिले १९१७ में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने स्वर्ण-निर्यात पर रोक लगादी। इतना ही नहीं बल्कि युद्धग्रस्त देशों के पुनः संस्थापन में अधिक व्यय हुआ जिसके फल-स्वरूप पत्र-मुद्रा वाले देशों को बहुत हानि हुई और कुछ देशों में तो वस्तुओं का मूल्य-स्तर बहुत ही बढ़ गया, विशेषतः जर्मनी, रूस और पोलैंड में। फ्रान्स, बेलजियम आदि देशों में मुद्रा-स्फीति से भयंकर दुष्परिणाम हुए किन्तु वहाँ की कीमतों का स्तर ३०० से ६०० प्रतिशत से अधिक ऊँचा नहीं गया। इस कारण पत्र-मुद्रा से जनता का विश्वास उठ गया था। लोग कोई ऐसी ठोस मुद्रा चाहते थे जिसमें जनता का विश्वास हो अथवा जो ऐसा विश्वास शीघ्र ही प्राप्त कर सके। ऐसी वस्तु स्वर्ण के अतिरिक्त दूसरी न थी।

इस उद्देश्य से विश्व के विभिन्न भागों में अनेक योजनाएँ बनाई गईं जिससे अन्तर्राष्ट्रीय ढंग पर स्वर्णमान का पुनः संस्थापन हो सके। इस उद्देश्य से ब्रुसेल्स में १९२० में एक अन्तर्राष्ट्रीय राजस्व-परिषद (International Financial Conference) बुलाई गई जिसमें २९ राष्ट्रों ने प्रतिनिधित्व किया। इस परिषद ने यह स्वीकृत किया कि जिन राष्ट्रों ने स्वर्णमान का परित्याग किया वे पुनः स्वर्णमान का अवलम्बन करें। इसके दो वर्ष बाद ही जेनेवा में एक अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-परिषद (International Economic Conference) बुलाई गई थी। उसने घोषणा की कि "प्रत्येक देश के चलन में मूल्य-स्थैर्य होना आवश्यक है जिससे वहाँ का आर्थिक पुनर्संङ्गठन हो सके और यूरोपीय चलन किसी सर्वसम्मत वस्तु पर—जो स्वर्ण है—आधारित किया जाय जिससे शीघ्र ही स्वर्णमान का अवलम्बन किया जा सके।"

१९१९ के बाद

स्वर्णमान का पुनः संस्थापन (Restoration of Gold Standard): ऊपर हमने यह बताया कि स्वर्ण के पुनः संस्थापन के लिए अन्तर्राष्ट्रीय देशों ने एक मत से अपनी सम्मति दी परन्तु फिर भी इस सम्बन्ध में दो विचारधाराएँ उस समय प्रचलित थीं। पहिली विचारधारा के अनुसार स्वर्णमान का पुनः संस्थापन होना था, जिसके समर्थक प्रो० गुस्टाव-कैसेल एवं उनके अन्य साथी थे। दूसरी विचारधारा के समर्थकों

का, जिनमें कीन्स तथा उनके अन्य साथी थे, कहना था कि स्वर्णमान का परित्याग कर सुसंचालित पत्र-मुद्रा-मान का वैज्ञानिक ढंग पर अवलम्बन किया जाय क्योंकि कीन्स के मतानुसार स्वर्ण भूतकालीन पिछड़ी अवस्था की स्मृति था। इन दोनों विचारधाराओं के होते हुए भी जनता का विश्वास आकर्षित करने के लिए स्वर्ण के अतिरिक्त ऐसी कोई भी दूसरी वस्तु नहीं थी जिसका अवलम्बन उस परिस्थिति में होना सम्भव हो सके इसीलिए स्वर्णमान का पुनः संस्थापन हुआ।

युद्ध के बाद सबसे पहिला देश जहाँ स्वर्णमान का पुनः संस्थापन हुआ, सयुक्त राष्ट्र अमेरिका था। इस देश में जून १९१९ में ही स्वर्ण के निर्यात सम्बन्धी सब प्रतिबन्ध हटा दिये गये। इसके बाद धीरे-धीरे अन्य देशों में भी स्वर्णमान का फिर से अवलम्बन किया गया और १९२७ में स्वर्णमान पर आधारित राष्ट्रों की संख्या युद्धपूर्व संख्या से भी अधिक थी। इंगलैंड में स्वर्णमान का पुनः संस्थापन १९२५ में तथा भारत में १९२७ में किया गया।

मूल्य-स्थैर्य की दर (Rates of Stabilization) : अब इस समय में किस दर पर पत्र-मुद्रा का स्वर्ण में परिवर्तन किया जाय तथा इस नई स्वर्ण-मुद्रा में स्वर्ण की मात्रा कितनी हो, यह प्रश्न विवादग्रस्त था। जिन देशों में युद्धजन्य परिस्थिति के कारण अवमूल्यन अधिक मात्रा में हुआ था उनके लिए युद्धपूर्व स्वर्ण-समता (Gold Parity) पर आना कठिन था क्योंकि इन देशों को मुद्रा का अधिक मात्रा में संकोचन करना पड़ता। इसलिए ऐसे देशों के लिए एकमात्र उपाय यही था कि वे स्वर्ण-मुद्रा का मूल्य उसी जगह स्थिर करें जहाँ पर कि वह पत्र-मुद्रा के वर्तमान मूल्य का ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व करे। अर्थात् पत्र-मुद्रा का स्वर्ण-मूल्य पहिले की अपेक्षा कानूनन कम किया जाय—जिसे हम वैधानिक अवमूल्यन (Depreciation) कहते हैं—जिससे मुद्रा-संकोच से होने वाली हानियों से देश बच सकता है। स्वर्णमान के पुनः संस्थापन के बाद अवमूल्यन द्वारा चलन में मूल्य-स्थैर्य लाने वाले देश फ्रान्स, बेलजियम, इटली, ग्रीस आदि हैं।

कुछ देश ऐसे भी थे जहाँ पत्र-मुद्रा का सोने के सम्बन्ध में क्रयशक्ति पर बहुत कम प्रभाव पड़ा था जैसे अमेरिका, कनाडा, स्विटजरलैंड, अर्जेण्टाइना आदि। इन देशों में स्वर्णमान का पुनः संस्थापन युद्धपूर्व दर पर ही किया गया।

इस प्रकार पत्र-मुद्रा का दर स्वर्णमान के संस्थापन के बाद युद्धपूर्व

स्वर्ण-समता (Gold Parity) पर मुद्रा-संकोच द्वारा स्थिर किया जाय अथवा स्वर्ण-समता की दर में कमी करके अथवा अवमूल्यन से स्थायित्व किया जाय, यह विवादग्रस्त समस्या थी, जिसका हल किस प्रकार किया गया वह ऊपर बताया गया है।

इस प्रकार दक्षिण अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, नॉर्वे, इंगलैंड आदि देशों में—जिनमें इंगलैंड प्रमुख था—स्वर्णमान का पुनः संस्थापन मुद्रा-संकोच द्वारा किया गया तथा वहाँ की प्रत्येक मुद्रा का स्वर्ण-मूल्य युद्धपूर्व स्वर्ण-समता पर स्थिर किया गया। किन्तु इस स्वर्णमान पद्धति के लक्षण युद्ध-पूर्व स्वर्णमान से बिल्कुल भिन्न थे। स्वर्ण-मुद्रा-मान तथा स्वर्ण-विनिमय-मान के दोषों का निवारण करने का एवं स्वर्ण की मितव्ययिता करने का इस पद्धति में प्रयत्न किया गया था—जिसे स्वर्ण-खण्ड-मान (Gold Bullion Standard) कहते हैं।

इंगलैंड में १९२५ में स्वर्णमान के पुनः संस्थापन के लिए "गोल्ड स्टैण्डर्ड ऐक्ट" स्वीकृत हुआ जिसके अनुसार स्वर्ण का टंकण-स्वातन्त्र्य एवं चलन का स्वर्ण-मुद्राओं में परिवर्तन बन्द किया गया तथा बैंक ऑफ इंगलैंड को यह अधिकार दिया गया कि वह ३ पौंड १७ शि० १०½ पेंस प्रति औंस की दर से ४०० औंस वजन के छड़—जिनमें ११/१२ भाग विशुद्ध सोना होता था—बेचे। इस प्रकार कोई भी व्यक्ति चलन का ४०० औंस से कम सोने में परिवर्तन नहीं कर सकता था जिससे बैंक ऑफ इंगलैंड के निधि का सोना जनता के पास जाने से बच गया।

इस पद्धति में स्वर्ण का निश्चित मूल्य पर क्रय-विक्रय करने के लिए केन्द्रीय अधिकोषों की स्थापना अनिवार्य समझी गई थी और भारत में भी १९३५ में हिल्टन यंग कमीशन (१९२७) की सिफारिशों के अनुसार "रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया" स्थापित किया गया।

इस पद्धति में स्वर्ण-चलन न होने से स्वर्ण में मितव्ययिता होती है, देश में पत्र-मुद्रा तथा प्रतीक मुद्रा का चलन होता है जिसकी परिवर्तनशीलता के लिए केन्द्रीय अधिकोष में स्वर्ण-निधि रखा जाता है जो अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के लिए उपयोगी होता है। इसी प्रकार यदि सब देशों के अधिकोष सहयोग से कार्य करें तो स्वर्ण के मूल्य में भी स्थिरता रखी जा सकती है। इन गुणों के कारण ही युद्धोपरान्त स्वर्ण-खण्ड-मान का अवलम्बन हुआ।

युद्धपूर्व एवं युद्धोपरान्त स्वर्णमान के लक्षण—साम्य-भेद

उपर्युक्त इतिहास के अनुसार युद्ध के पहिले तथा बाद में जो स्वर्णमान पद्धति विश्व में प्रचलित थी उसके क्या लक्षण थे, यह अब हम तुलनात्मक

दृष्टि से देख सकते हैं। युद्धोपरान्त स्वर्णमान से निम्नलिखित लाभ थे :—

१. इस पद्धति में स्वर्ण-चलन-मान से होने वाले सब लाभ तो होते ही हैं; इसके अतिरिक्त स्वर्ण-मुद्रा-चलन के लिए जो टङ्कण-व्यय होता था उसमें बचत होती है क्योंकि स्वर्ण-मुद्रा का चलन नहीं होता;

२. निधि में स्वर्ण होने से विदेशी विनिमय को प्रभावशाली एवं स्थिर बनाता है तथा इस निधि के लिए स्वर्ण-मुद्रा-चलन में जो स्वर्ण की मात्रा लगती है उससे कम मात्रा आवश्यक होने से स्वर्ण में मितव्ययिता होती है;

३. अतिरिक्त मात्रा में जो स्वर्ण किसी देश में होता है उस स्वर्ण की सहायता से अन्य देशों में भी स्वर्णमान अपनाया जा सकता है।

युद्धपूर्व स्वर्णमान	युद्धोपरान्त स्वर्णमान
१. स्वर्ण विनिमय-माध्यम तथा मूल्यमापन का कार्य करता है।	१. स्वर्ण केवल मूल्यमापक है, विनिमय-माध्यम नहीं।
२. स्वर्ण का मुक्त टङ्कण-स्वातन्त्र्य जनता को होता है तथा स्वर्ण की मुद्राएँ चलन में होती हैं।	२. स्वर्ण-मुद्राएँ न तो चलन में होती हैं और न उनका टङ्कण ही होता है।
३. देश में पत्र-मुद्रा अथवा प्रतीक मुद्रा का चलन होता है जो स्वर्ण-मुद्राओं में परिवर्तित किये जा सकते हैं।	३. पत्र-मुद्रा एवं प्रतीक मुद्राओं का चलन होता है किन्तु इनका परिवर्तन केवल ४०० औंस वजन की छड़ों में ही हो सकता है।
४. स्वर्ण उपर्युक्त ढंग पर अन्तर्वाह्य कार्यों के लिए मिलता है।	४. स्वर्ण उपर्युक्त ढंग पर अन्तर्वाह्य कार्यों के लिए मिलता है।
५. इसकी कार्य-पद्धति स्वयं-निर्भर (Automatic) है।	५. इसकी चलन-पद्धति सुसञ्चालित (Managed System) है जिसका नियन्त्रण केन्द्रीय अधिकोष द्वारा होता है।
६. इस पद्धति में अन्तर्गत कीमतों के स्थैर्य पर विदेशी विनिमय के स्थैर्य की अपेक्षा अधिक जोर दिया जाता है।	६. इस पद्धति में अन्तर्गत कीमतों के स्थैर्य की अपेक्षा विदेशी विनिमय के स्थैर्य पर अधिक जोर दिया जाता है।

स्वर्णमान का परित्याग (Break-down of Gold Standard)

स्वर्णमान के पुनः संस्थापन के बाद जिन देशों के चलन में मूल्य-स्थैर्य नहीं था उनमें मूल्य-स्थैर्य आगया था और व्यापार, विदेशी विनिमय, उत्पादन आदि में १९२५ से १९२८ के बीच काफी स्थिरता आगई थी। परन्तु यह स्थिरता अल्पकालीन ही साबित हुई जिसके लिए निम्नलिखित कारणों का विशेषता से उल्लेख किया जाता है :—

१. युद्धकाल में अमेरिका ने जो ऋण युद्धग्रस्त राष्ट्रों को दिये तथा युद्धजन्य हानिपूर्ति के लिए जर्मनी तथा अन्य मित्र राष्ट्रों में जो सन्धियाँ हुईं उनके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय ऋण सम्बन्धी शेषों में विशेष परिवर्तन हुआ तथा जो देश धनी थे वे ऋणी बन गये।

२. युद्ध के पूर्व इंगलैंड विश्व में सबसे बड़ा साहूकार देश था जिसकी आर्थिक परिस्थिति युद्ध ने बदल दी तथा अमेरिका और फ्रान्स अब साहूकार बन गये जिनका ऋणी इंगलैंड हो गया, क्योंकि युद्ध के लिए अपरिमित मात्रा में इंगलैंड ने ऋण लिया तथा उसी में से अन्य मित्र राष्ट्रों को युद्ध-संचालन के लिए ऋण दिया, जिसका भुगतान फ्रान्स, इंगलैंड तथा मित्र राष्ट्रों को शत्रु राष्ट्रों द्वारा हानिपूर्ति के रूप में होना था। किन्तु उत्तमर्ण राष्ट्रों ने अपने ऋण का भुगतान वस्तुओं में लेना स्वीकार नहीं किया क्योंकि उन्होंने ऊंची दरों पर आयात-कर द्वारा अपने बाजारों में विदेशी माल पर प्रतिबन्ध लगा दिये।

३. इंगलैंड ने युद्धपूर्व अपने यहाँ की बहुतसी पूँजी लम्बी अवधि के लिए अन्य देशों को उनके विकास (Development) के लिए ऋण पर देदी थी। दूसरी ओर अधमर्ण राष्ट्रों ने अब (युद्ध के बाद) ऋण देने से अपना हाथ समेट लिया तथा जो ऋण दिये भी थे उनका उपयोग आर्थिक विकास की अपेक्षा ऋणों के भुगतान के लिए अथवा हानिपूर्ति के लिए ही होने लगा।

४. संयुक्त राष्ट्र तथा फ्रान्स जो उत्तमर्ण राष्ट्र थे, उन्होंने ऊँचे संरक्षक करों द्वारा आयात पर प्रतिबन्ध लगा दिया जिससे उनके ऋणों का भुगतान स्वर्ण में करना ही अधमर्ण राष्ट्रों के लिए अनिवार्य हो गया, फलस्वरूप बहुत बड़ी मात्रा में सोना अमेरिका तथा फ्रान्स में गया जिसको उन्होंने निष्क्रिय (Sterilize) कर दिया अथवा जिसका प्रभाव आन्तरिक कीमतों पर नहीं

होने दिया अर्थात् इन देशों ने स्वर्णमान का जो आवश्यक लक्षण स्वयं-निर्भरता है उसको कार्यान्वित नहीं होने दिया। उधर अन्य राष्ट्रों में स्वर्ण की कमी से मूल्य-स्तर गिरने लगे। परिणामस्वरूप अधमर्ण राष्ट्रों के ऋण का भार (Debt-burden) अधिकाधिक होता गया।

५. इसके अतिरिक्त कुछ समय के लिए ऋणग्रस्त राष्ट्रों में व्यापार एवं उत्पादन कार्य में उन्नति दिखाई दी जिससे भविष्य की आशाओं पर अधिकाधिक **परिकल्पना** (Speculation) अथवा सट्टेबाजी बढ़ती गई। परिणाम यह हुआ कि उपभोग की अपेक्षा उत्पादन बढ़ता गया तथा माँग-पूर्ति के नियम का उल्लंघन होने से उत्पादन एवं उपभोग का सन्तुलन (Equilibrium) बिगड़ गया जिससे कीमतें धड़ाधड़ गिरने लगीं।

६. मित्र राष्ट्रों के परस्पर दिये हुए ऋणों के कारण तथा इन ऋणों की भुगतान सम्बन्धी चर्चाओं के कारण सब देशों में अधिक अनिश्चितता, भय एवं अविश्वास पैदा हो गया।

ऐसी विपरीत एवं विरोधी परिस्थिति में विश्व के स्वर्ण-संचय का लगभग ६० प्रतिशत भाग केवल फ्रान्स और अमेरिका में था तथा अन्य देशों में केवल ४० प्रतिशत ही था—अतः स्वर्णमान को कार्यान्वित करना तथा मूल्यों में स्थिरता रखना असम्भव हो गया। भय एवं चलन में अविश्वास होने के कारण १६२६–१६३१ के बीच विश्व-मन्दी (World Depression) आगई तथा जर्मनी, आस्ट्रिया आदि देशों ने स्वर्ण की कमी के कारण स्वर्ण देना बन्द कर दिया तथा यही परिस्थिति इङ्गलैंड की भी हो गई जिसने २० सितम्बर १६३१ को स्वर्ण देना बन्द किया। इस प्रकार १६३१ में विश्व के सभी राष्ट्रों ने अपने चलन का स्वर्ण से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया एवं स्वर्णमान का परित्याग हो गया।

स्वर्णमान का भविष्य (Future of the Gold Standard)

१६३१ में स्वर्णमान का परित्याग होने के कुछ वर्षों बाद ही द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया और विश्व के प्रमुख देशों में फिर से अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा की बहुलता हो गई। इससे होने वाले मूल्य-अस्थैर्य के कारण विभिन्न देशों में भविष्य के चलन सम्बन्धी अनेक योजनाएँ बनाई गईं जिनको कार्यान्वित करके युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान इस नई योजना के अनुसार हो सके। कीन्स, गुस्टाव कैसेल आदि के मतानुसार स्वर्ण के मूल्य में स्थिरता न रहने से उसने मौद्रिक क्षेत्र में अपना महत्त्व खो दिया है अतः आगे के

लिए सुसंचालित पत्र-मुद्रा-चलन-मान (Managed Paper Currency Standard) ही सम्भव है जो इङ्गलैंड आदि अनेक राष्ट्रों में यशस्वी रीति से कार्यान्वित है। किन्तु इस पद्धति का महान् दोष चलनाधिक्य की सम्भावना है जिससे अनेक हानियाँ होती हैं तथा इसमें जनता का विश्वास भी कायम नहीं हो सकता। अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के लिए मुद्रा की अन्तर्राष्ट्रीयत्ता भी आवश्यक है। इसके विपरीत स्वर्णमान के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की आवश्यकता है जिसके न होने से ही स्वर्णमान का परित्याग किया गया अतः जब तक अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग नहीं होता तब तक स्वर्णमान का कार्यान्वित होना असम्भव है क्योंकि इसके स्वर्ण का, जिसका ८० प्रतिशत अमेरिका के पास है, पुनर्वितरण (Redistribution) होना भी जरूरी है और पुनर्वितरण तभी हो सकता है जब अनिर्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार हो, आयात-निर्यात अप्रतिरोध हों तथा मुद्रा-स्फीति की नीति का त्याग किया जाय। तीसरे, जो देश स्वर्ण के उत्पादक हैं वे देश ऐसे किसी भी मौद्रिक मान का समर्थन नहीं कर सकते जिसमें स्वर्ण को प्रमुख स्थान न दिया जाय। तथा चौथे, लम्बी अवधि की ऐसी कोई भी मान-पद्धति जो स्वर्ण पर आधारित नहीं है, जनता की विश्वास-प्राप्त नहीं हो सकती।

उपर्युक्त कारणों से ही ब्रेटनवुड परिषद (१९४४) में सब प्रमुख देशों की सम्मति से ब्रेटनवुड योजना की स्वीकृति हुई तथा अन्तर्राष्ट्रीय अधिकोष (International Bank) एवं अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-प्रणीवि (International Monetary Fund) की स्थापना की गई। इस योजना का मूल उद्देश्य विश्व के राष्ट्रों की आर्थिक उन्नति करना तथा विदेशी विनिमय की दर में एवं अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों में स्थिरता रखना है। इस योजना के अन्तर्गत स्वर्णमान के सब लाभ तो प्राप्त होते ही हैं, उसमें जो अवगुण थे उनका निवारण भी अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग होने से हो सकता है। स्वर्ण की भी अधिक आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि देशों का आन्तरिक चलन प्रतीक मुद्रा का रहेगा और अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-प्रणीवि (I. M. F.) द्वारा होगा। इस प्रकार आज भी स्वर्ण ही मौद्रिक जगत् में प्रमुख कार्य कर रहा है एवं करेगा जैसा कि स्वर्णमान में होता रहा। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-प्रणीवि द्वारा स्वर्ण का मूल्य ३५ डालर प्रति विशुद्ध औंस निश्चित किया गया है।

प्रश्न

१. स्वर्णमान के भविष्य के बारे में अपने विचार प्रकट कीजिये।

२. प्रथम महायुद्ध के बाद तथा १९३१ में स्वर्णमान के कटु अनुभव हुए एवं उसका परित्याग हुआ, यह जानते हुए स्वर्णमान का भविष्य क्या हो सकता है ?

३. स्वर्णमान का संक्षिप्त इतिहास देते हुए उसका परित्याग १९३१ में किन कारणों से हुआ इसकी मीमांसा (विवेचन) कीजिये।

४. युद्धपूर्व एवं युद्धोपरान्त स्वर्णमान की कार्य-पद्धति बताते हुए उनका साम्य तथा भेद बताइये।

अध्याय १०

विदेशी विनिमय

विदेशी विनिमय क्या है ?

'विदेशी विनिमय' के भिन्न-भिन्न अर्थ किये जाते हैं। जिस समय हम यह कहते हैं कि विनिमय अधिकोष (Exchange Banks) विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करते हैं उस समय विदेशी विनिमय से तात्पर्य होता है 'विदेशी विनिमय विपत्र' (Foreign Bills of Exchange)। इसी प्रकार जब हम यह कहते हैं कि विदेशी विनिमय हमारे पक्ष में नहीं है उस समय हमारा मतलब होता है विनिमय-दर (Rate of Exchange) से। किन्तु विदेशी विनिमय का सही रूप में शब्दशः अर्थ होता है—"वह पद्धति जिससे व्यापारी राष्ट्र अपने आपसी ऋणों का भुगतान करते हैं।"[1] अर्थात् विदेशी विनिमय वह पद्धति है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों का भुगतान किया जाता है। विदेशी चलन की माँग एवं पूर्ति किस प्रकार होती है तथा विभिन्न देशों की मुद्राओं की दर किस प्रकार निश्चित की जाती है, इन तत्वों का इसमें विवेचन किया जाता है।

जहाँ तक देश के आन्तरिक व्यापार का सम्बन्ध है, उस देश में भुगतान देशी चलन द्वारा किया जाता है क्योंकि उस देश की वही असीमित विधिग्राह्य मुद्रा होती है। किन्तु विदेशी भुगतान के लिए तो हमको ऐसी ही वस्तुएँ देनी पड़ेंगी जो उस देश में स्वीकृत हों, और ऐसी कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा नहीं है जो सब देशों में स्वीकृत एवं विधिग्राह्य हो। ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु केवल स्वर्ण ही है जिसके द्वारा भुगतान किया जा सकता है, परन्तु प्रत्येक व्यापारिक लेन-देन के समय सोना भेजना अथवा मँगाना खतरनाक है और खर्चीला भी है। अतः विदेशी भुगतान किस प्रकार होता है, भुगतान करने की कौन सी क्रियाएँ हैं, किस प्रकार एक देश की मुद्रा की दर दूसरे देश की

---

[1] *"The system by which commercial nations discharge their debts to each other."—Encyclo. Britt.*

मुद्रा के साथ निश्चित की जाती है, यह जानना आवश्यक है और इसलिए ही विदेशी विनिमय के अध्ययन की आवश्यकता भी है।

हार्टले विदर्स के शब्दों में "विदेशी विनिमय अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-परिवर्तन का विज्ञान एवं कला है"[1] अथवा विदेशी विनिमय का अर्थ है—दूसरे देशों की मुद्राओं का क्रय-विक्रय, जो उसी प्रकार किया जाता है जैसे कि अन्य वस्तुओं का क्रय एवं विक्रय। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि विदेशी विनिमय निम्नलिखित विषयों से सम्बन्धित है :—

१. वह वस्तु जो खरीदी अथवा बेची जाती है अर्थात् विदेशी विपत्र (Foreign Bills);

२. उनकी कीमत, जिस दर से वे खरीदी एवं बेची जाती हैं; तथा

३. वे संस्थाएँ जिनके द्वारा वे विपत्र खरीदे अथवा बेचे जाते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान कैसे हो सकता है?

अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के केवल तीन मार्ग किसी भी देश को उपलब्ध होते हैं :—

१. जो वस्तुएँ किसी देश में आयात (Import) की जाती हैं उनके बदले में उस देश की आवश्यक वस्तुएँ देना—किन्तु यह मार्ग सम्भव नहीं है क्योंकि प्रत्येक देश दूसरे देशों को उनकी आवश्यकता की वस्तुएँ पर्याप्त मात्रा में नहीं दे सकता और हो सकता है कि उन वस्तुओं की उपज ही उस देश में न हो। दूसरे, वस्तु-विनिमय की कठिनाइयाँ अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु-विनिमय में और भी तीव्रतर हो जाती हैं।

२. अपनी वस्तुओं के आयात के बदले स्वर्ण देना तथा निर्यात के बदले स्वर्ण लेना—किन्तु यह मार्ग अधिक खर्चीला तथा खतरनाक है एवं असुविधाजनक भी है क्योंकि एक देश का दूसरे देश के साथ अनेकों व्यक्तियों से लेन-देन होता है; उस हालत में प्रत्येक व्यक्ति को सोने का आयात एवं निर्यात करना पड़ेगा किन्तु यदि एक देश का कुल लेना और कुल देना निकाला जाय तो बहुत कम मात्रा में सोने का निर्यात या आयात

---

[1] *"Foreign Exchange means the buying and selling of the money of other countries and is handled in the same way as the buying and selling of most other things."*

"Foreign Exchange is the Art and Science of International Money Changing."—Hartley Withers (Money Changing).

होगा। अतः सोने के लेन-देन से होने वाली असुविधाएँ बचाने के लिए एवं स्वर्ण के उपयोग में मितव्ययिता लाने की दृष्टि से तीसरा मार्ग ही अधिक सुविधाजनक एवं कम खर्चीला है।

३. तीसरा मार्ग है विनिमय-विपत्रों द्वारा विदेशी ऋणों का भुगतान करना। इस पद्धति में स्वर्ण का उपयोग रोज के लेन-देन के लिए न होते हुए सामयिक शोधन के लिए ही उसकी आवश्यकता पड़ती है। जैसे मान लीजिये कि एक साल में हमारे यहाँ २० लाख पौंड का आयात हुआ तथा ३० लाख पौंड का निर्यात हुआ तो केवल १० लाख पौंड का सोना वर्ष के अन्त में हमको इङ्गलैंड चुकायगा। यदि यह पद्धति न होती तो भारत से इङ्गलैंड को २० लाख पौंड का सोना जाता तथा इङ्गलैण्ड से भारत में ३० लाख पौंड का सोना आता और इस प्रकार ५० लाख पौंड के स्वर्ण की आवश्यकता पड़ती एवं उसके लिए वाहन-व्यय भी होता ही। किन्तु विपत्रों के द्वारा केवल १० लाख पौंड सोना ही लगा अर्थात् ४० लाख पौंड सोने की बचत तथा वाहन-व्यय की बचत तो हुई ही, इसके अतिरिक्त निर्यात के लिए जो कष्ट एवं असुविधाएँ दोनों देशों को उठानी पड़तीं उसकी भी आवश्यकता न रही। इसीलिए तीसरे मार्ग से ही—अर्थात् विदेशी विपत्रों द्वारा ही—आजकल अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों का भुगतान होता है, और ऐसे विपत्र विनिमय-अधिकोषों द्वारा खरीदे तथा बेचे जाते हैं।

विदेशी विपत्रों की कार्यप्रणाली

मान लीजिये कि इङ्गलैण्ड से अमेरिका में कुछ वस्तुओं का आयात होता है तथा उसी प्रकार से कुछ वस्तुओं का निर्यात होता है। ऐसी दशा में दोनों देशों के भुगतान के लिए स्वर्ण का आयात-निर्यात होगा। परन्तु यह पद्धति असुविधाजनक होने से विपत्रों के द्वारा दोनों देशों का भुगतान किया जायगा। उदाहरणार्थ, अमेरिका हमेशा डॉलर में भुगतान चाहेगा और अंग्रेजों द्वारा केवल पौंड-स्टर्लिंग ही दिया जा सकता है, उसी प्रकार अंग्रेज अपना भुगतान पौंड-स्टर्लिंग में चाहेंगे किन्तु अमेरिकन केवल डॉलर में भुगतान कर सकते हैं अतः दोनों को ही एक-दूसरे देश की मुद्रा खरीदनी पड़ेगी। जहाँ विदेशी मुद्राओं का क्रय-विक्रय होता है उसे विदेशी-विनिमय-विपणि (Foreign Exchange Market) कहते हैं। अब यह मुद्रा किस प्रकार खरीदी जायगी यह प्रश्न उठता है। मान लीजिये कि अमेरिका के 'अ' ने १०,००० पौंड का निर्यात इङ्गलैण्ड के 'ब' को किया है और इङ्गलैण्ड के 'स' ने

अमेरिका के 'ड' को १०,००० पौंड का माल निर्यात किया है। उस परिस्थिति में लेन-देन की दशा निम्न प्रकार होगी :—

अमेरिका	इंगलैण्ड
'अ' (निर्यातकर्त्ता एवं उत्तमर्ण)	'ब' (आयातकर्त्ता एवं अधमर्ण)
'ड' (आयातकर्त्ता एवं अधमर्ण)	'स' (निर्यातकर्त्ता एवं उत्तमर्ण)

अब 'ब' ने 'अ' को १०,००० पौंड तथा 'ड' ने 'स' को १०,००० पौंड देना है। यदि स्वर्ण के द्वारा भुगतान किया जाता है तो दोनों को ही स्वर्ण भेजना पड़ेगा, किन्तु विपत्रों से यदि भुगतान किया जाय तो केवल एक विपत्र से ही दोनों ऋणों का भुगतान हो सकेगा। इसलिए 'अ' १०,००० पौंड का एक विपत्र 'ब' पर आहरित (Draw) करेगा जो 'ब' स्वीकृत (Accept) करके 'अ' को भेज देगा। अमेरिका में 'अ' उस विपत्र को 'ड' को बेचकर डालर में अपना भुगतान ले लेगा और 'ड' इस विपत्र को इंगलैंड के 'स' के पास भेजेगा जिसका भुगतान वह 'ब' से पौंड अथवा अंग्रेजी चलन में ले लेगा। इस प्रकार एक विपत्र के द्वारा 'अ' तथा 'स' दोनों के ऋणों का भुगतान उनके देश की मुद्राओं में प्राप्त हो जाता है, और न तो सोने का दो बार निर्यात होता है और न उससे होनेवाली असुविधाएँ एवं व्यय ही।

उपर्युक्त उदाहरण में हमने दोनों ऋणों की एक ही रकम (अर्थात् १०,००० पौंड) ली है परन्तु प्रत्यक्ष में ऐसा सन्तुलन (Balancing) बहुत कम होता है। इंगलैंड लाखों पौंड के विपत्र अमेरिका पर आहरित करता है और उसी प्रकार अमेरिका इंगलैंड पर लाखों डालरों के विपत्र आहरित करता है जो दोनों देशों के अधमर्णों द्वारा अपने-अपने उत्तमर्णों के भुगतान के लिए खरीदे जाते हैं तथा इन विपत्रों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों का भुगतान किया जाता है। यदि किसी देश का पावना (Receipts), देने (Payments) से अधिक हो तो उस दशा में पावना वाले देश में स्वर्ण का आयात होता है परन्तु इसमें भी मितव्ययिता लाई जाती है।

यहाँ पर हमने केवल दो देशों का उदाहरण लिया है किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अनेक देश होते हैं और ऐसी हालत में एक देश के कुल ऋणों का सन्तुलन उस देश के कुल पावने (Receipts or Credits) के साथ किया जाता है और फिर जो कुछ शेष रहता है उसका भुगतान स्वर्ण के निर्यात द्वारा होता है और यदि स्वर्ण का निर्यात नहीं किया जाता तो वह देश अन्य देशों का उस रकम से ऋणी रहता है।

विदेशी विनिमय की माँग एवं पूर्ति

विदेशी विनिमय के लिए माँग कैसे होती है तथा उसकी पूर्ति किस प्रकार की जाती है यह भी जानना चाहिए। विदेशी विनिमय की माँग उन व्यक्तियों द्वारा प्रस्तुत की जाती है जो विदेशों से माल मँगाना चाहते हों, विदेशी सेवाओं का भुगतान करना चाहते हों, अथवा विदेशों में अपनी पूँजी का विनियोग करना चाहते हों। विदेशी विनिमय की पूर्ति उन व्यक्तियों द्वारा की जाती है जो विदेशी मुद्रा पर किसी न किसी रूप में अधिकार प्राप्त करते हैं, चाहे वह निर्यात द्वारा, सेवाओं द्वारा, अथवा पूँजी के आयात द्वारा हो। इस प्रकार किसी भी समय वैधानिक माँग एवं पूर्ति निश्चित होती है तथा इनकी परस्पर शक्ति के ऊपर ही अन्य वस्तुओं की कीमत की भाँति विपत्रों की कीमत भी निर्भर रहती है।

विनिमय की दर

यह वह दर है जिससे एक देश के विपत्र दूसरे देशों में बेचे जायँगे। इनकी कीमत इन विपत्रों की उस देश में माँग एवं पूर्ति पर निर्भर रहेगी। यदि किसी भी समय विदेशी मुद्रा के विपत्रों की माँग एवं पूर्ति का सन्तुलन होगा तो विनिमय-दर में समता (Parity) होगी; इसके विपरीत यदि विपत्रों की माँग अधिक है तथा पूर्ति कम, तो उस दशा में विनिमय की दर बढ़ेगी अथवा विदेशी मुद्रा का मूल्य समता से बढ़ेगा अर्थात् विदेशी मुद्रा को खरीदने के लिए हमको पहिले से अधिक देशी मुद्राएँ देनी पड़ेंगी। इसी प्रकार यदि विदेशी विपत्रों की पूर्ति माँग की अपेक्षा अधिक है तो विनिमय की दर गिरेगी अथवा विदेशी मुद्रा का मूल्य दर की समता से नीचे होगा अर्थात् विदेशी मुद्रा को खरीदने के लिए हमको पहिले की अपेक्षा कम देशी मुद्राएँ देनी पड़ेंगी।

किन्तु यह विनिमय की दर समता से कहाँ तक बढ़ेगी अथवा कितनी नीचे गिरेगी—इसकी भी मर्यादाएँ हैं जो भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न होंगी। उसी प्रकार भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में समता की दर भी भिन्न प्रकार से निश्चित की जाती है।

विनिमय की समता (Par of Exchange)

जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, किसी भी समय विनिमय की दर विदेशी मुद्रा की माँग तथा पूर्ति एवं विदेशी विनिमय विपणि (Foreign Exchange Market) की दशा पर निर्भर रहती है किन्तु दीर्घकालीन दर

दो देशों की मुद्राओं की पारस्परिक क्रयशक्ति पर निर्भर रहती है अथवा दो देशों के बीच मुद्रा का क्रय-विक्रय दीर्घकालीन अवधि में दोनों देशों की मुद्राएँ अपने-अपने देश में जो क्रयशक्ति रखेंगी उस पर निर्भर रहेगा। अर्थात् किसी भी समय यह दर क्रयशक्ति-समता का प्रतिनिधित्व करेगी।

विनिमय की समता निश्चित करने की निम्नलिखित पद्धतियाँ हैं :—

१. जब दोनों देश स्वर्णमान पर आधारित होते हैं,

२. जब एक देश स्वर्ण पर तथा दूसरा रौप्य पर आधारित होता है,

३. जब एक देश स्वर्ण पर तथा दूसरा अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा पर आधारित होता है, तथा

४. जब दोनों देश अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा पर आधारित होते हैं।

१. स्वर्ण पर आधारित देश : जब विभिन्न देशों की मुद्राएँ स्वर्ण पर आधारित होती हैं उस समय स्वर्ण के माध्यम से हम विभिन्न देशों की क्रयशक्ति नाप सकते हैं तथा विभिन्न देशों की मुद्राओं का मूल्य उनकी स्वर्ण में जो क्रयशक्ति होती है उससे नाप सकते हैं। जब दो देशों की मुद्राओं का विनिमय इस प्रकार से होता है कि वे अपने देशों में एक ही मात्रा में सोना खरीदती हैं उस समय विनिमय-दर की समता (Par of Rate of Exchange) होती है अथवा इस समता की स्थिति में दोनों देशों की मुद्राएँ अपने-अपने देश में समान मात्रा में सोना खरीदती हैं। इस परिस्थिति में जब दो देशों की मुद्राओं का विनिमय होता है उस समय न तो लेने वाले और न देने वाले को किसी प्रकार से लाभ अथवा हानि होती है। अर्थात् स्वर्णमान पर आधारित राष्ट्रों की मुद्राओं की क्रयशक्ति, स्वर्ण-क्रयशक्ति है और जब तक स्वर्ण का आयात-निर्यात अनिर्बन्ध है तब तक दो देशों की मुद्राओं का परस्पर विनिमय उन देशों के प्रमाणित सिक्कों की विशुद्ध स्वर्ण की समानता पर निर्भर रहेगा। इसी को टंक-समता (Mint Par) अथवा विनिमय की टंक-समता (Mint Par of Exchange) कहते हैं। टॉमस के शब्दों में विनिमय की टंक-समता उसे कहेंगे जिसमें "एक देश के प्रमाणित सिक्कों का यथार्थ साम्य दूसरे देश के प्रमाणित सिक्कों में व्यक्त किया जाता है, जो एक ही धातुमान पर होते हैं—यह साम्य दोनों सिक्कों में जो धातु की वैधानिक विशुद्ध मात्रा होती है उसकी तुलना से निश्चित होता है" अथवा "टंक-समता वह अनुपात है जो एक ही धातुमान

पर आधारित राष्ट्रों की प्रमाणित मौद्रिक इकाइयों के वैधानिक धातु-साम्य से व्यक्त होता है।"[1] यहाँ पर एक बात विशेष रूप से ध्यान में रखनी होगी कि स्वर्ण पर आधारित राष्ट्रों की मुद्रा के वैधानिक विशुद्ध स्वर्ण-मूल्य से ही टंक-समता निश्चित की जाती है न कि उसके वास्तविक मूल्य से; अर्थात् टंक-समता से तात्पर्य है—एक देश की विशुद्ध स्वर्ण-मुद्रा का दूसरे देश की मुद्रा का विशुद्ध स्वर्ण में मूल्य तथा रौप्यमान वाले राष्ट्रों में चाँदी का चाँदी में मूल्य।

सारांश में, टंक-समता मुद्रा पर निर्भर न रहते हुए उस मुद्रा की वैधानिक व्याख्या पर निर्भर रहती है, सॉवरेन की वास्तविकता पर नहीं अपितु सॉवरेन की वैधानिकता पर, और जब तक विधान में परिवर्तन नहीं होता टंक-समता में भी परिवर्तन नहीं होगा।[2]

इस सिद्धान्त के अनुसार अमेरिका तथा इङ्गलैंड की विनिमय-दर निम्न प्रकार से मालूम होगी :—

अमरीकी प्रमाणित सिक्का ईगल (Eagle = १० डॉलर) है जिसमें २९८ ग्रेन सोना $\frac{९}{१०}$ विशुद्धता का होता है। इस प्रकार १० डॉलर में विशुद्ध सोना २५८ × $\frac{९}{१०}$ = २३२·२ ग्रेन होगा तथा १ डॉलर में २३२·२ × $\frac{१}{१०}$ = २३·२२ ग्रेन होगा।

इसी प्रकार इंगलैंड के एक सॉवरेन में १२३·२४७ ग्रेन स्वर्ण $\frac{११}{१२}$ विशुद्धता का होता है अर्थात् १ सॉवरेन में १२३·२४७ × $\frac{११}{१२}$ = ११३·००१६

---

[1] "The exact equivalent of the standard coin of one country expressed in terms of standard coin of another country having the same metallic standard—the equivalent being determined by a comparison of the quantity and fineness of the metal contained in two standard coins as fixed by law" or "the mint par is an expression of the ratio between the statutory bullion equivalents of the standard monetary units of two countries on the same metallic standard."—'Banking and Exchange' by Thomas.

[2] "The mint par depends in short, not on the coin itself, but on the legal definition of it, not on the sovereign de-facto, but on the sovereign de-jure . . . unless and until the law is altered the mint par cannot alter."—'A. B. C. of Foreign Exchange' by Clare and Crump.

ग्रेन विशुद्ध सोना होता है इसलिए १ सॉवरेन $= \frac{११३\cdot००१६}{२३\cdot२२} =$ ४·८६६ डॉलर होगा अर्थात् इंगलैंड व अमेरिका के बीच विनिमय की टंक-समता १ सॉवरेन = ४·८६६ डॉलर होगी।

जो देश रौप्य-धातुमान पर आधारित होते हैं उनके बीच भी इसी प्रकार टंक-समता निकाली जायगी।

समता-मूल्य से उतार-चढ़ाव : यह हम बता चुके हैं कि विपत्रों की माँग एवं पूर्ति के अनुसार विपत्रों का मूल्य समता से घटता अथवा बढ़ता है तथा उसकी मर्यादाएँ होती हैं। जब दोनों देश स्वर्ण पर आधारित होते हैं एवं स्वर्ण एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजा जा सकता है उस समय यह उतार-चढ़ाव की मर्यादा स्वर्ण के भेजने में जो व्यय होता है उस व्यय से निश्चित की जाती है। अर्थात् किसी भी समय समता की दर में स्वर्ण भेजने के लिए जो व्यय होगा उसको जोड़ देने से हम विपत्रों के मूल्य की उच्चतम मर्यादा पाते हैं तथा समता की दर में से स्वर्ण भेजने का व्यय घटा कर हम विपत्रों के मूल्य की निम्नतम मर्यादा पाते हैं। सामान्यतः विपत्रों के उतार-चढ़ाव की उच्चतम एवं निम्नतम मर्यादाएँ, स्वर्ण के भेजने में जो खर्च आता है उस पर निर्भर रहती हैं। उदाहरणार्थ, अमेरिका और इंगलैण्ड के बीच विनिमय की समता-दर १ पौंड = ४·८६६ डॉलर है एवं सोने के भेजने व मँगाने में ·०२४ डॉलर व्यय होता है। जब अंग्रेजी पौंड में दर बढ़ती है तो यह दर अधिक से अधिक प्रति पौंड ४·८९ (४·८६६ + ·०२४) डॉलर होगी क्योंकि यदि दर इससे अधिक बढ़ती है तो अमरीकी व्यापारियों को विपत्रों से भुगतान करने की अपेक्षा स्वर्ण भेजना सस्ता पड़ेगा। अर्थात् किसी भी समय जब दो देश स्वर्ण पर आधारित होते हैं उस समय उनकी दर 'विनिमय की समता + स्वर्ण-वाहन-व्यय' (Cost of Transmitting Specie) से अधिक नहीं चढ़ सकती। इस उच्चतम मर्यादा को उच्चतम स्वर्ण-बिन्दु अथवा स्वर्ण-निर्यात-बिन्दु (Upper Gold Point or Gold Export Point) कहते हैं। अमरीकी लोगों की दृष्टि से यह स्वर्ण-निर्यात-बिन्दु है क्योंकि इस दर से अधिक दर चढ़ने पर अमरीका से स्वर्ण का निर्यात होने लगेगा तथा इंगलैण्ड की दृष्टि से यह स्वर्ण-आयात-बिन्दु होगा क्योंकि इस दर से अधिक दर बढ़ने पर इंगलैण्ड में सोना आना शुरू होगा।

इसी प्रकार दर गिरने की निम्नतम मर्यादा विनिमय की समता में से स्वर्ण मँगाने के लिए जो वाहन-व्यय होगा उसे घटाने से मालूम होती है।

मान लीजिये कि किसी समय अमेरिका के विपत्रों के लिए पूर्ति की अपेक्षा माँग कम है तो दर गिरने लगेगी। ऐसी अवस्था में दर गिरने की निम्नतम मर्यादा विनिमय-समता में से स्वर्ण-आयात-व्यय घटाकर मालूम होगी। अब स्वर्ण-आयात-व्यय ·०२४ डॉलर है तो अमरीकी उत्तमर्ण अपने विपत्रों की दर ४·८४२ (४·८६६ – ·०२४) डॉलर प्रति पौंड से नीचे नहीं उतरने देंगे क्योंकि ऐसी अवस्था में अमरीकी व्यापारी विपत्रों से भुगतान लेने की अपेक्षा स्वर्ण में ही अपना भुगतान लेंगे। अर्थात् इस मर्यादा को निम्नतम स्वर्ण-विन्दु अथवा स्वर्ण-आयात-विन्दु (Lower Specie or Gold Point or Gold Import Point) कहते हैं। यही निम्नतम मर्यादा इङ्गलैंड की दृष्टि से स्वर्ण-निर्यात-विन्दु होगी क्योंकि इङ्गलैंड के व्यापारियों को स्वर्ण में भुगतान करना लाभदायक होगा।

स्वर्ण-आयात-विन्दु एवं स्वर्ण-निर्यात-विन्दु विनिमय-दर के उतार-चढ़ाव की निम्नतम एवं उच्चतम मर्यादाएँ हैं और सामान्य अवस्था में विनिमय की दर में उतार-चढ़ाव इन मर्यादाओं से सीमित रहता है। किन्तु असाधारण परिस्थिति में जब आयात-निर्यात के लिए स्वर्ण पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलता उस समय विनिमय की दर इन मर्यादाओं का भी उल्लंघन कर सकती है। हमें यहाँ पर एक बात ध्यान रखना चाहिए कि ये स्वर्ण-विन्दु स्थायी नहीं रहते, किन्तु परिवर्तनशील हैं क्योंकि वाहन-व्यय (Cost of Transport), आगोप-व्यय (Cost of Insurance) तथा सोने की खरीद-बिक्री में होनेवाला व्यय हमेशा व्यापारिक स्पर्धा के कारण बदलता रहता है।

स्वर्ण-विन्दुओं का निकालना : निम्नतम एवं उच्चतम स्वर्ण-विन्दु निकालने के सम्बन्ध में नीचे दिये हुए नियमों का उपयोग हो सकता है :—

१. जब विनिमय की दर विदेशी मुद्रा में व्यक्त की जाती है तब स्वर्ण-निर्यात-विन्दु निकालने के लिए टंक-समता में से वाहन-व्यय घटाइये तथा स्वर्ण-आयात-विन्दु निकालने के लिए टंक-समता-दर में वाहन-व्यय जोड़िये। उदाहरणार्थ, इङ्गलैंड के व्यापारियों की दृष्टि से जब १ पौंड का मूल्य डॉलर में ४·८६६ व्यक्त किया जाता है तब ४·८४२ (४·८६६ – ·०२४) स्वर्ण-आयात-विन्दु होगा एवं ४·८९ (४·८६६ + ·०२४) स्वर्ण-निर्यात-विन्दु होगा।

२. जब विनिमय की दर देशी मुद्रा में व्यक्त की जाती है तब स्वर्ण-निर्यात-विन्दु निकालने के लिए टंक-समता-दर में से वाहन-व्यय घटाइये

२. जब एक देश स्वर्ण पर तथा दूसरा देश रौप्य पर आधारित होता है : जब एक देश की मुद्रा स्वर्ण से तथा दूसरे देश की मुद्रा चाँदी अथवा रौप्य से सम्बन्धित होती है उस अवस्था में दोनों की मुद्राओं में कितना विशुद्ध स्वर्ण एवं चाँदी है यह मालूम किया जायगा। फिर रौप्य का स्वर्ण में, अथवा स्वर्ण का रौप्य में क्या मूल्य है (यह मूल्य सरकार द्वारा निर्धारित होता है), यह मालूम किया जायगा तथा रौप्य का स्वर्ण-मूल्य निकाला जायगा। अब दोनों ही मुद्राओं में कितना विशुद्ध स्वर्ण है इसकी हम तुलना कर सकते हैं और इसी के आधार पर दोनों मुद्राओं का क्या अनुपात होगा यह हम निकाल सकते हैं। जो स्वर्ण-अनुपात होगा वही टंक-समता की दर इन दोनों देशों की मुद्राओं की होगी। भारत और इङ्गलैंड के बीच १८९८ तक रुपये का स्टर्लिंग-मूल्य इसी प्रकार निश्चित किया जाता था। उदाहरणार्थ, टंक-विधान (Mint Law) के अनुसार भारतीय रुपये में (जो १८० ग्रेन का था) १६५ ग्रेन विशुद्ध चाँदी थी जो उस समय के मूल्य के अनुसार ७·५३३४४ ग्रेन स्वर्ण के बराबर थी। इङ्गलैंड की मुद्रा में—जैसा ऊपर बता चुके हैं—११३·००१६ ग्रेन विशुद्ध स्वर्ण था। इसलिए इङ्गलैंड के १ पौंड स्टर्लिंग का भारतीय मुद्रा में ११३·००१६ ÷ ७·५३३४४ अथवा १५ रुपये मूल्य था। अर्थात् १ रुपया $\frac{१}{१५}$ पौंड के अथवा ($\frac{२०}{१५}$ शि०) १ शि० ४ पेंस के बराबर था।

३. जब एक देश स्वर्ण पर तथा दूसरा देश अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा पर आधारित होता है : जब दो देशों में एक स्वर्ण पर आधारित होता है तथा दूसरा अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा पर तब विनिमय-दर की समता दोनों देशों की मुद्राएँ कितना स्वर्ण खरीद सकती हैं, इससे निश्चित की जाती है। जो देश स्वर्णमान पर है उसकी मुद्रा का स्वर्ण-मूल्य तो निश्चित है ही किन्तु अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा का मूल्य, स्वर्ण-विपणि में उसका क्या मूल्य है, इस पर निर्भर रहता है। ऐसी दशा में विनिमय-दर कितनी गिरेगी अथवा कितनी बढ़ेगी इसके लिए कोई भी निश्चित विन्दु नहीं होते, जैसे उपर्युक्त दो परिस्थितियों में होते हैं। हाँ, स्वर्ण पर आधारित राष्ट्र के लिए उच्चतम विन्दु अथवा स्वर्ण-निर्यात-विन्दु होता है क्योंकि वहाँ निर्यात के लिए स्वर्ण उपलब्ध होने से यदि विनिमय की दर स्वर्ण भेजने के व्यय से भी अधिक हो जाती है तो उन्हें स्वर्ण भेजना लाभदायक होगा अतः स्वर्ण पर आधारित देश में विनिमय की दर स्वर्ण-निर्यात-विन्दु अथवा उच्चतम स्वर्ण-विन्दु से अधिक नहीं पढ़ सकती किन्तु

स्वर्ण का आयात दूसरे देश से न होने के कारण दर गिरने के लिए कोई भी मर्यादा नहीं होती क्योंकि दूसरा देश अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा पर आधारित होता है। किन्तु अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा वाले देश में विनिमय की दर में कमी अथवा अधिकता उस देश में विपत्रों की माँग एवं पूर्ति पर निर्भर रहेगी और यह दर कितनी घटेगी अथवा बढ़ेगी इसके लिए कोई मर्यादा नहीं होगी।

४. जब दोनों देश अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा पर आधारित हैं : इस अवस्था में विनिमय की दर स्वर्ण-विन्दुओं तक सीमित नहीं रहती किन्तु विपत्रों की माँग एवं पूर्ति पर निर्भर रहती है। फिर भी यह दर निश्चित करना कठिन होता है क्योंकि ये पत्र-मुद्राएँ किसी भी अन्य धातु से सम्बन्धित नहीं होतीं तथा उन देशों में मुद्रा-स्फीति के कारण अथवा अन्य आर्थिक कारणों से मुद्रा की क्रयशक्ति भी पूर्ववत् नहीं रहती। ऐसी अवस्था में मुद्राओं का सम्बन्ध किसी धातु से न होने के कारण क्रयशक्ति के नापने का कोई भी साधन नहीं होता और न हम यह जान सकते हैं कि उनका मूल्य अथवा उनकी क्रयशक्ति कितनी कम हो गई है। ऐसी अवस्था में मुद्राओं के मूल्य की दूसरी मुद्राओं के साथ तुलना करने के लिए हम विभिन्न मुद्राओं की क्रयशक्ति का उपयोग करते हैं अर्थात् **अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा पर आधारित देशों की विनिमय-दर क्रयशक्ति-समता पर निर्भर होती है।** उदाहरणार्थ, मान लीजिये कि इंगलैंड में १ पौंड देकर हम 'क' वस्तुएँ खरीद सकते हैं तथा इतनी ही वस्तुएँ खरीदने के लिए हमको अमेरिका में ५ डॉलर देने पड़ते हैं। ऐसी अवस्था में अधमर्ण एवं उत्तमर्णों को किसी भी प्रकार से हानि न होने के लिए इन दोनों देशों के व्यापारियों को परस्पर उतनी ही मुद्रा लेनी होगी जिससे कि वे समान वस्तुओं तथा सेवाओं पर अधिकार प्राप्त कर सकें। अतः इस परिस्थिति में इंगलैंड एवं अमेरिका के बीच की विनिमय-दर क्रयशक्ति-समता से निश्चित की जायगी और यह दर १ पौंड = ५ डॉलर होगी क्योंकि १ पौंड से इंगलैंड में तथा ५ डॉलर से अमेरिका में 'क' वस्तुएँ खरीदी जा सकती हैं। इस प्रकार से दर निश्चित करने की विधि को क्रयशक्ति-समता सिद्धान्त (Purchasing Power Parity Theory) कहते हैं। कोल के शब्दों में "राष्ट्रीय मुद्राओं का परस्पर मूल्य—जो स्वर्ण से असम्बन्धित हैं—दीर्घकाल में विशेषतः उनकी वस्तुओं एवं सेवाओं की परस्पर क्रयशक्ति से निश्चित होता है।"[1] टॉमस के शब्दों में "किसी भी

---

[1] *"The relative values of national currencies which are off gold, are determined in the long run mainly by their relative purchasing*

विशेष काल में एक मुद्रा की इकाई का दूसरी मुद्रा में मूल्य माँग तथा पूर्ति की विपणि-स्थिति पर निर्भर रहता है फिर भी लम्बी अवधि में अथवा दीर्घकाल में दो देशों की मुद्राओं का परस्पर मूल्य उनकी वस्तुओं तथा सेवाओं की क्रयशक्ति से निश्चित होता है।"[2] अर्थात् विनिमय-दर में उसी बिन्दु पर स्थिर होने की प्रवृत्ति होती है जहाँ दोनों देशों की मुद्राओं की क्रयशक्ति समान होती है। इस बिन्दु को क्रयशक्ति-समता कहते हैं। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि दो देशों के बीच धातु-मुद्रा की जगह जब अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा का प्रयोग होता है उस समय विनिमय की दर टंक-समता से निश्चित न होते हुए क्रयशक्ति-समता से निश्चित की जाती है। टंक-समता में मुद्रा की स्वर्ण-क्रयशक्ति से एवं क्रयशक्ति-समता में वस्तु एवं सेवाओं की क्रयशक्ति से विनिमय की दर निश्चित की जाती है और यह क्रयशक्ति-समता टंक-समता की तरह स्थिर न रहते हुए मूल्य-स्तर-परिवर्तन के कारण अस्थिर होती है।

ऊपर हमने देखा कि अमेरिका में यदि ५ डॉलर से 'क' वस्तुएँ तथा इंग्लैंड में १ पौंड से 'क' वस्तुएँ खरीदी जा सकती हैं तो दोनों मुद्राओं का वस्तुओं में मूल्य-स्तर १ पौंड एवं ५ डॉलर पर समान रहता है अतः लम्बी अवधि में इन दोनों देशों की विनिमय-दर १ पौंड = ५ डॉलर होगी। किन्तु मान लीजिये कि किन्हीं कारणों से यह दर १ पौंड = ६ डॉलर होती है तो उस परिस्थिति में क्रयशक्ति में परिवर्तन न होने से पौंड के बदले में डॉलर लेना लाभदायक होगा क्योंकि अमेरिका में हम १ पौंड से इंगलैंड से अधिक वस्तुएँ खरीद सकेंगे अर्थात् अमेरिका से इंगलैंड में आयात बढ़ेगा। परिणाम-स्वरूप इंगलैंड में डॉलर की माँग पूर्ति से अधिक होगी और इसका परिणाम विनिमय-दर की वृद्धि में होगा और अन्त में यह दर १ पौंड = ५ डॉलर पर स्थिर होगी क्योंकि इसी बिन्दु पर क्रयशक्ति-समता आती है। इस प्रकार लम्बी अवधि में विनिमय की दर क्रयशक्ति-समता पर निर्भर रहती है।

अपरिवर्तनीय-पत्र-मुद्रा में मुद्रा-प्रसार के साथ मूल्य-स्तर में भी परिवर्तन

---

powers in terms of commodities and services." —*H. Cole : 'What Everybody Wants to Know About Money.'*

2 *"While the value of unit of one currency in terms of another currency is determined at any particular time, by the market conditions of demand and supply; in the long run that value is determined by the relative values of the two currencies as indicated by their relative purchasing power over goods and services."*

होता रहता है जिसको हम निर्देशांक द्वारा नापते हैं। इस निर्देशांक की सहायता से ही हम विभिन्न मुद्राओं की क्रयशक्ति जान सकते हैं। अब हमको इंगलैंड और अमेरीका के बीच विनिमय-दर निश्चित करना है। मान लीजिये कि डॉलर एवं पौंड की टंक-समता १ पौंड = ४·८६६ डॉलर है। दोनों देशों का मूल्य-स्तर बढ़ गया है एवं उनके निर्देशांक १५८ (इंगलैंड) एवं १७८ (अमेरिका) हैं। अब इससे यह स्पष्ट है कि पहिले की अपेक्षा डॉलर का मूल्य ७८ प्रतिशत तथा पौंड का मूल्य ५८ प्रतिशत घट गया है अथवा अमरीकी डॉलर का मूल्य इंग्लिश पौंड की अपेक्षा घट गया है क्योंकि उसकी क्रयशक्ति कम हो गई है, इसलिए अब

$$१ \text{ पौंड} = \frac{४·८६६ \times १७८}{१५८} = ५·४८१ \text{ डॉलर होगा क्योंकि इंगलैंड}$$

और अमेरिका के बीच अवमूल्यन का अनुपात १७८ : १५८ है। इस प्रकार जब दो देशों की मुद्राओं का अवमूल्यन हो रहा है अथवा होता है उस परिस्थिति में टंक-समता को दोनों देशों की मुद्रा-स्फीति के अनुपात (Quotient) से गुणा करने से क्रयशक्ति-समता निकाली जाती है।[1] यह क्रयशक्ति-समता सिद्धान्त प्रोफेसर गुस्टाव कैसेल ने प्रथम महायुद्ध के बाद, जब सब देशों में अपरिवर्तनीय पत्र-चलन था, प्रस्तुत किया। विनिमय-दर निश्चित करने का यह एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है।

क्रयशक्ति-समता सिद्धान्त की आलोचना।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि टंक-समता की जगह क्रयशक्ति-समता सिद्धान्त के द्वारा विभिन्न देशों की विनिमय-दर दीर्घकाल में निश्चित की जाती है इसलिए इस सिद्धान्त के द्वारा सही परिणाम पर पहुँचने के लिए आवश्यक है कि क्रयशक्ति नापने का साधन ठीक हो जिससे हम बिल्कुल ठीक परिणाम पर पहुँच सकें। किन्तु हमारा क्रयशक्ति नापने का साधन निर्देशांक हैं जो सर्वथा ठीक न होते हुए केवल औसत (Averages) बतलाते हैं तथा वस्तुओं की सूची भी भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न होती है अतः इन निर्देशांकों द्वारा निकाली हुई क्रयशक्ति-समता कभी भी सही नहीं हो सकती। इसलिए इस सिद्धान्त के बारे में प्रो० वॉल्टर लीफ ने कहा है—"शुरू में तो

---

[1] *"When two currencies in two countries have been inflated, the new normal rate of exchange will be equal to the old rate multiplied by the quotient between the degrees of inflation of both*

यह एक साधारण वस्तु प्रतीत होती है; परन्तु कठिनाइयाँ आ पड़ती हैं"[1] जिनका निवारण करना वास्तव में असम्भव है।

१. सबसे पहिला आक्षेप तो इस सिद्धान्त के विरुद्ध यह है कि निर्देशांक की सहायता से निकाली हुई मुद्राओं की क्रयशक्ति केवल औसत बतलाती है और इसलिए इसकी सहायता से निकाली हुई विभिन्न मुद्राओं की क्रयशक्ति सही नहीं होती क्योंकि सब वस्तुओं की कीमतें न एक साथ बढ़ती हैं और न एक साथ घटती हैं।

२. दूसरे, निर्देशांक बनाते समय केवल कुछ चुनी हुई वस्तुओं का ही समावेश किया जाता है न कि उस देश के औद्योगिक जीवन में आने वाली सब वस्तुओं का। इतना ही नहीं, बल्कि ऐसी चुनी हुई वस्तुओं को केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक वस्तुओं तक ही सीमित रखने में हम सही परिणाम पर नहीं पहुँचते क्योंकि ऐसी वस्तुओं की कीमतें सब देशों में एक ही परिमाण में घटती हैं या बढ़ती हैं क्योंकि आयात की हुई वस्तुओं की कीमतें उनकी निर्यात-कीमत, वाहन-व्यय एवं विनिमय-दर से ही निश्चित की जाती हैं।[2]

३. विनिमय-दर में माँग एवं पूर्ति के अनुसार तत्कालीन परिवर्तन होते हैं जिसकी वजह से व्यापार पर प्रभाव पड़ता है तथा आयात एवं निर्यात में रुकावटें पैदा होती हैं; परिणामस्वरूप प्रत्येक देश में कीमतों का वास्तविक स्तर ठीक प्रकार से नहीं मालूम हो सकता इसलिए इस सिद्धान्त के द्वारा परिवर्तन-काल (Transitional Periods) में इस सिद्धान्त से हम विनिमय-दर के चढ़ाव-उतार के कारणों का विश्लेषण ठीक तरह नहीं कर सकते और न ऐसे समय में क्रयशक्ति-समता ही मालूम कर सकते हैं। हाँ, दीर्घकालीन अवधि में इस सिद्धान्त से क्रयशक्ति-समता अवश्य मालूम हो सकती है क्योंकि मौद्रिक परिवर्तनों से क्रयशक्ति पर होने वाले परिणाम इससे जाने जा सकते हैं किन्तु अन्य परिस्थितियों में परिवर्तन होने से विनिमय-दर पर जो प्रभाव पड़ता है उसके कारणों का स्पष्टीकरण इस सिद्धान्त द्वारा नहीं हो सकता। आयात-निर्यात में कोई अदृश्य आयात अथवा निर्यात (Invisible Imports and Exports) में परिवर्तन होने से भी विनिमय-दर प्रभावित होती है जिसका समावेश इस सिद्धान्त में नहीं हो सकता इसलिए यह सिद्धान्त ठीक परिणाम नहीं दे सकता।

४. निर्देशांक बनाने में जिन वस्तुओं का समावेश होता है वे वस्तुएँ बहुधा

---

1 *"It seems a simple thing at first, but troubles befall"*

2 *See 'A. B. C. of Foreign Exchange' by Clare and Crump.*

कच्चा माल अथवा खाद्यान्न होती हैं। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में निर्मित वस्तुओं की कीमतों (Manufactured Prices) का भी समावेश होता है जिससे क्रयशक्ति-समता के मापन मे त्रुटि आती है, क्योंकि निर्मित वस्तुओं की कीमतें केवल कच्चे माल पर निर्भर न रहते हुए मजदूरी, व्याज आदि अन्य वस्तुओं पर निर्भर रहती हैं। इन वस्तुओं की कीमतें एक साथ ही नहीं बढ़तीं और न एक साथ घटती हैं; किन्तु मजदूरी आदि की दर कीमतें बढ़ने के ६—७ महीने बाद बढ़ती हैं। अतः इस सिद्धान्त में कालक्षेप (Time-lag) की त्रुटि रहती है जिसके कारण हम ठीक नतीजे पर नहीं पहुँच सकते। उसी प्रकार कीमतों की गति में तथा निर्देशांकों के बनाने के बीच भी कुछ समय व्यतीत होता है जिसके कारण भी इस सिद्धान्त में कालक्षेप की त्रुटि रहती है।

५. राजनैतिक परिस्थिति तथा व्यापार के आयात-निर्यात पर रुकावटें डालने से भी कीमतों का सही स्तर नही मालूम हो सकता क्योंकि राजनैतिक परिस्थिति जैसे युद्ध आदि के कारण विनिमय की दर बढ़ जाती है परन्तु उस देश के आन्तरिक मूल्य-स्तर मे किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता, उसी प्रकार आयात-निर्यात पर रुकावटें अथवा प्रतिबन्ध लगाने का हेतु भी विनिमय-दर को स्थिर रखने का होता है। इस कारण भी इस सिद्धान्त में त्रुटि आती है।

६. क्रयशक्ति-समता सिद्धान्त द्वारा निकाली हुई समता स्थिर न रहते हुए अस्थिर (Moving) रहती है क्योंकि यह निर्देशांकों पर निर्भर रहती हैं जो सदैव बदलते रहते हैं तथा जिनका समायोजन (Adjustments) टंक-समता की तरह स्वयंपूर्ण (Automatic) नहीं होता।

इन आक्षेपों के होते हुए भी यह सिद्धान्त एक मार्ग-दर्शक की तरह दो देशों में विनिमय-दर-स्थापन किस प्रकार से होता है, यह बताता है इसलिए दीर्घकालीन अवधि में विनिमय-दर निश्चित करने का यह अच्छा साधन है; हालाँ कि इसमें क्रयशक्ति-समता ठीक तरह नही निकाली जा सकती और न इसी समता के बराबर विनिमय-दर रहती है और न टंक-समता की तरह बिल्कुल सही परिणाम देती है। यह सिद्धान्त किसी भी प्रकार की चलन-पद्धति में लागू होता है और अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा अच्छा है क्योंकि व्यापार का रुख किस समय किस दिशा में होगा यह इस सिद्धान्त द्वारा मालूम होता है। इस प्रकार विश्व में मुद्राओं के अवमूल्यन अथवा अधिमूल्यन से

विदेशी व्यापार पर तथा विनिमय-दर पर होने वाले परिणामों को हम जान सकते हैं तथा गत वर्षों में एवं आज दुनिया में क्या हो रहा है इसका भी ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए इस सिद्धान्त का ज्ञान तीन दृष्टियों से आवश्यक है :—पहिले, दीर्घकालीन अवधि में विनिमय-दर क्रयशक्ति-समता के अनुसार क्या होगी यह हम जान सकते हैं। दूसरे, विभिन्न देशों के ऋणों का शेष किन बातों पर निर्भर रहता है तथा उस पर विनिमय-दर का क्या प्रभाव होता है यह मालूम होता है क्योंकि ऋणों का शेष (Balance of Indebtedness) विनिमय-दर, विभिन्न देशों में होने वाली वस्तुओं की आवक-जावक तथा उनके मूल्यों के परस्पर प्रभाव पर निर्भर रहता है। और तीसरे, मूल्य-स्थैर्य (Stabilization) की कोई भी योजना आन्तरिक एवं अन्तर्देशीय मूल्य-स्तर की जानकारी के बिना यशस्वी नहीं हो सकती, यह भी मालूम होता है।

विनिमय-दर को प्रभावित करने वाले घटक

(Factors Affecting the Rate of Exchange)

हम यह ऊपर बता चुके हैं कि अल्पकालीन विनिमय-दर अनेक कारणों से इस क्रयशक्ति-समता से घटती या बढ़ती है—चाहे यह क्रयशक्ति स्वर्ण-मुद्रा वाले देशों के बीच की हो अथवा अपरिवर्तनीय पत्र-चलन वाले देशों के बीच की हो। अब, वे कौनसे कारण हैं जिनका प्रभाव अल्पकालीन विनिमय-दर पर होता है तथा जिससे विनिमय-दर में उच्चावचन अर्थात् उतार-चढ़ाव (Fluctuations) होते हैं, उनको देखना आवश्यक हो जाता है।

व्यापारिक-शेष सिद्धान्त : हम यह देख चुके हैं कि विपत्रों की माँग तथा पूर्ति पर विनिमय-दर निर्भर रहती है। अर्थात् किसी देश से वस्तुओं एवं सेवाओं का जो निर्यात होता है तथा वस्तुओं एवं सेवाओं का जो आयात उस देश में होता है उससे उस देश की मुद्रा की अन्य देशों में क्या माँग है एवं क्या पूर्ति है, यह निश्चित होता है। यदि माँग पूर्ति से अधिक होती है तो उस देश के लिए विनिमय-दर पक्ष में (Favourable) होती है अथवा उस देश की मुद्रा का मूल्य अन्य देशों की मुद्राओं में समता से बढ़ जाता है। इसके विपरीत यदि उस देश की मुद्रा की पूर्ति अधिक एवं माँग कम है तो विनिमय-दर समता से घट जाती है एवं उस देश के विपक्ष में होती है अर्थात् उस देश की मुद्रा विदेशी मुद्राएँ कम खरीदती है। इसी को हम यों कह सकते हैं कि किसी भी समय विनिमय-दर

का चढ़ाव-उतार उस देश की मुद्रा की माँग एवं पूर्ति पर—जो व्यापारिक कारणों से उत्पन्न होती है—निर्भर रहता है। इसी को व्यापारिक-शेष सिद्धान्त (Balance of Trade Theory) कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि किसी देश में निर्यात से आयात अधिक है तो व्यापारिक शेष प्रतिकूल अथवा विपक्ष में होगा अर्थात् इस देश में विदेशी मुद्राओं की माँग उनकी पूर्ति से अधिक होगी जिसके कारण उस देश और अन्य देशों के बीच विनिमय-दर गिरेगी अर्थात् इस देश की मुद्रा का मूल्य विदेशी मुद्रा के रूप में कम होगा। इसी प्रकार यदि आयात से निर्यात अधिक होता है तो व्यापारिक शेष अनुकूल अथवा पक्ष में होगा अर्थात् इस देश में विदेशी मुद्राओं की पूर्ति माँग से अधिक होगी जिसके कारण इस देश की विनिमय-दर विदेशी मुद्रा में बढ़ेगी अर्थात् इस देश की मुद्रा विदेशी मुद्राओं को अधिक खरीदेगी। इस प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार विनिमय-दर व्यापारिक शेष के अनुसार घटेगी अथवा बढ़ेगी।

खाता-शेष सिद्धान्त : किन्तु वास्तव में विदेशी विनिमय की माँग एवं पूर्ति केवल व्यापारिक वस्तुओं के आयात-निर्यात पर ही निर्भर न रहते हुए ऐसी अन्य बातों पर निर्भर रहती हैं जिनसे विदेशी मुद्रा की माँग तथा पूर्ति उत्पन्न होती हैं। अर्थात् विनिमय-दर दृश्य तथा अदृश्य आयात-निर्यात से प्रभावित होती है। दृश्य आयात एवं निर्यात में उन सब व्यापारिक वस्तुओं का समावेश होता है जिनके आँकड़े उपलब्ध होते हैं किन्तु विदेशी मुद्रा की माँग एवं पूर्ति उन सेवाओं के शोधन के लिए भी होती है जिनके आँकड़े उपलब्ध नहीं होते जैसे जहाजरानी की सेवाएँ, अधिकोष तथा आगोप (Banking and Insurance) की सेवाएँ; एक-दूसरे देश को दिये जाने वाले ऋण, एक-दूसरे देश में होने वाले विनियोग (Investments), विदेशी यात्रियों के व्यय, विदेशी-विनिमय का सट्टा, आदि। दूसरे, आजकल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के भुगतान केवल दो देशों मे न होते हुए विभिन्न देशों के लेन-देन का शेष निकाल कर किये जाते हैं और इस खाता-शेष (Balance of Accounts) के अनुसार कोई भी देश दीर्घकालीन अवधि में उतना ही निर्यात कर सकता है जितना वहाँ पर आयात होता है क्योंकि यदि स्वर्ण के आयात-निर्यात पर किसी भी प्रकार के प्रतिबन्ध न हों तो एक देश से दूसरे देश के भुगतान में जो स्वर्ण जायगा उससे वहाँ के आन्तरिक मूल्य बढ़ेंगे। परिणामस्वरूप वहाँ से निर्यात कम होगा तथा आयात अधिक। इसके विपरीत यदि उस देश में स्वर्ण आता है

तो वहाँ के आन्तरिक मूल्य बढ़ेंगे। परिणामस्वरूप आयात अधिक होगा एवं निर्यात कम। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में स्वर्ण की अप्रतिबन्धित (Unrestricted) गति होती है और उस समय खाता-शेष का अपने आप समायोजन (Adjustment) हो जाता है तथा विनिमय-दर भी क्रयशक्ति-समता के आसपास आ जाती है। इस प्रकार खाता-शेष सिद्धान्त के अनुसार देश-विदेशों की विनिमय-दर प्रभावित होती है तथा विभिन्न खातों का सन्तुलन (Balancing) हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से अब यह स्पष्ट हो जाता है कि विनिमय-दर मुख्यतः तीन कारणों से प्रभावित होती है :—

१. विदेशी मुद्रा की माँग एवं पूर्ति को प्रभावित करनेवाली परिस्थिति,

२. किसी देश के चलन की परिस्थिति (Currency Conditions of any Country), तथा

३. राजनैतिक परिस्थिति (Political Conditions)।

१. विदेशी मुद्रा की माँग एवं पूर्ति : यह तीन कारणों से प्रभावित होती है :—

(क) व्यापारिक परिस्थिति (Trade Conditions)

(ख) अधिकोषण परिस्थिति (Banking Conditions)

(ग) स्कन्ध-विनिमय परिस्थिति (Stock Exchange Conditions)

व्यापारिक परिस्थिति : देश-विदेश की व्यापारिक परिस्थिति का परिणाम देश के आयात-निर्यात पर होता है जिसके कारण विदेशी मुद्रा की माँग एवं पूर्ति प्रभावित होती है तथा विनिमय-दर भी। जैसा ऊपर बताया गया है, यदि निर्यात की अपेक्षा आयात अधिक होता है तो विदेशी मुद्रा की माँग पूर्ति की अपेक्षा बढ़ती है और विनिमय-दर भी हमारे विपक्ष में होती है अर्थात् इस परिस्थिति में हमारे देश की मुद्रा विदेशी मुद्राओं को कम खरीदेगी। इसके विपरीत परिणाम, आयात से निर्यात की अधिकता होने पर होते हैं अर्थात् विदेशी मुद्रा की पूर्ति माँग की अपेक्षा अधिक होने से विनिमय-दर हमारे पक्ष में होती है तथा हमारी मुद्रा विदेशी मुद्राओं को अधिक खरीद सकती है अर्थात् विदेशी मुद्राओं में हमारी मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है।

अधिकोषण परिस्थिति : अधिकोषों की कार्य-प्रणाली से भी विनिमय-

दर प्रभावित होती है। अधिकोषण परिस्थिति में अधिकोषों की ब्याज की दर अथवा अपहार-दर (Discount Rate), उनके साख-पत्रों का विदेशों में क्रय-विक्रय तथा लाभ के हेतु किया हुआ विदेशी मुद्राओं के क्रय-विक्रय का समावेश होता है क्योंकि अधिकोष के इन सब व्यवहारों से विदेशी मुद्रा की माँग एवं पूर्ति पर प्रभाव होने से विनिमय-दर भी प्रभावित होती है। किसी भी देश में यदि अधिकोष-दर (Bank Rate) में अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा वृद्धि कर दी जाय तो इस देश में विदेशी व्यक्तियों को अपना पैसा लगाना लाभदायक होता है; परिणामस्वरूप विदेशों में उस देश की मुद्रा की माँग बढ़ जाती है जिसके कारण देशी मुद्रा का मूल्य विदेशी मुद्रा में बढ़ जाता है अर्थात् देशी मुद्रा पहिले की अपेक्षा विदेशी मुद्रा अधिक खरीद सकती है। इसके विपरीत यदि अधिकोष-दर अन्य राष्ट्रों की तुलना में कम कर दी जाय तो उस देश से विदेशों को पूँजी जाने लगती है; परिणाम-स्वरूप उस देश की मुद्रा की पूर्ति माँग की अपेक्षा बढ़ जाती है जिसके कारण विनिमय-दर विदेशी मुद्रा में घट जाती है अर्थात् देशी मुद्रा अब विदेशी मुद्राएँ कम खरीदती है।

इसी प्रकार साख-पत्रों के क्रय-विक्रय का परिणाम भी विनिमय-दर पर होता है। जिस समय हमारे देश के अधिकोष विदेशों में जाने वाले यात्रियों को साख-पत्र बेचते हैं उसका मतलब यह होता है कि विदेशी मुद्रा को हम खरीदते हें अर्थात् विदेशी मुद्रा की माँग पूर्ति की अपेक्षा अधिक होने से विनिमय-दर गिर जाती है अथवा देशी मुद्रा विदेशी मुद्रा कम खरीदती है। इसके विपरीत जब विदेशों से हमारे देश मे भुगतान के लिए साख-पत्र दिये जाते हैं उस समय हमारी मुद्रा की माँग पूर्ति की अपेक्षा अधिक होने से विनिमय-दर बढ़ जाती हैं अथवा हमारी मुद्रा विदेशी मुद्राएँ अधिक खरीदती हैं।

लाभार्जन के हेतु भी विदेशी मुद्राओं का क्रय-विक्रय होता है जिसे Arbitrage Dealings कहते हैं। इस प्रकार के व्यवहार दो प्रकार के होते हैं :—एक साधारण तथा दूसरे चक्र-व्यवहार (Compound Dealings)। पहिले में अर्थात साधारण व्यवहारों में दो देशों की मुद्रा का क्रय-विक्रय दो मौद्रिक केन्द्रों में किया जाता है जिसका हेतु यह होता है कि दोनों केन्द्रों की दर में जो अन्तर हो वह लाभ के रूप में मिले। उदाहरणार्थ, बम्बई में यदि रुपये का स्टर्लिङ्ग-मूल्य १८ पेंस प्रति रुपया है और इंग्लैंड में उसी समय १८३ पेंस प्रति रुपये की दर है तो इन दोनों दरों के

अन्तर से १/२ पेंस प्रति रुपया लाभ हो सकता है। इसलिए हम तार द्वारा इंगलैंड से १८१/२ पेंस प्रति रुपये की दर से स्टर्लिङ्ग खरीदेंगे जिनको भारत में १८ पेंस प्रति रुपये की दर से बेच देंगे जिसमें हमको १/२ पेंस प्रति रुपया लाभ होगा। चक्र-व्यवहारों में विभिन्न मौद्रिक केन्द्रों पर विभिन्न मुद्राएँ खरीदी तथा बेची जाती हैं और उन केन्द्रों पर विनिमय-दर में अन्तर होने से लाभ कमाया जाता है किन्तु चक्र-व्यवहार केवल तज्ञों द्वारा एवं अधिकोषों द्वारा ही किये जाते हैं जो इस विषय में अपनी जानकारी रखते हैं तथा विभिन्न मौद्रिक केन्द्रों के सम्पर्क में रहते हैं। इस प्रकार के व्यवहारों से विभिन्न केन्द्रों पर विनिमय-दरों में जो अन्तर होते हैं वे कम हो जाते हैं क्योंकि मुद्राओं की दरों में अन्तर होने से लाभार्जन के हेतु उनकी खरीद-बिक्री सदैव होती रहती है।

इस प्रकार के व्यवहार जो अधिकोषों द्वारा किये जाते हैं उनसे एक देश की मुद्रा की माँग पूर्ति की अपेक्षा एक देश में बढ़ती है तथा दूसरे देश में पूर्ति माँग की अपेक्षा बढ़ती है जिससे विनिमय-दर प्रभावित होती है। उपर्युक्त उदाहरण में इङ्गलैंड में स्टर्लिङ्ग की माँग बढ़ जाती है, पूर्ति नहीं। परिणामस्वरूप स्टर्लिङ्ग का रुपये में मूल्य गिर जायगा अथवा विदेशी विनिमय-दर बढ़ जायगी। दूसरी ओर भारत में स्टर्लिङ्ग की पूर्ति अधिक होने से विदेशी विनिमय-दर गिर जायगी अर्थात् रुपया पहिले की अपेक्षा अधिक पेंस खरीद सकेगा। यह विनिमय-दर की अस्थिरता तब तक रहेगी जब तक दोनों ही केन्द्रों में विनिमय-दर समान नहीं होती। इस प्रकार Arbitrage Dealings जो अधिकोषों द्वारा किये जाते हैं उनका प्रभाव विनिमय-दर पर होता रहता है।

दीर्घकालीन ऋण : अधिकोषों द्वारा एक-दूसरे देशों को जो ऋण दिये जाते हैं उनका प्रभाव भी विनिमय-दर पर होता है। दीर्घकालीन अवधि में विनिमय की दर उत्तमर्ण राष्ट्र के विपक्ष में होगी क्योंकि उसकी मुद्रा की पूर्ति अधिक होती है। परन्तु तत्कालीन अथवा अल्पकालीन परिणाम उस ऋण के उपयोग पर निर्भर रहेगा। यदि उस ऋण का उपयोग उसी देश में माल खरीदने के लिए किया जाय तो विनिमय-दर पर कोई प्रभाव नहीं होगा किन्तु उसी ऋण से यदि दूसरे राष्ट्रों से माल खरीदा जाय तो उन राष्ट्रों में इस देश की मुद्रा की पूर्ति अधिक होगी, परिणामतः विनिमय-दर गिर जायगी और उत्तमर्ण राष्ट्र की मुद्रा विदेशी मुद्रा को कम खरीदेगी।

स्कन्ध-विनिमय-परिस्थिति (Stock Exchange Operations) : स्कन्ध-विनिमय व्यवहारों में विनियोग-पत्र (Securities), स्कन्ध आदि का क्रय-विक्रय, ऋणों की लेन-देन, व्याज एवं लाभांश (Dividends) की लेन-देन तथा सट्टे के व्यवहारों का समावेश होता है। विनियोग-पत्रों को यदि हम दूसरे देशों से खरीदते हैं तो हमको विदेशी मुद्रा में भुगतान करना पड़ता है जिसके कारण हमारे देश में विदेशी मुद्रा की माँग बढ़ती है, परिणाम-स्वरूप विनिमय-दर विदेशी मुद्रा में घटती है। इसके विपरीत हमारे देश के विनियोग एवं स्कन्ध यदि विदेशियों द्वारा खरीदे जाते हैं तो हमारी मुद्रा की माँग बढ़ने से हमारी मुद्रा की विनिमय-दर विदेशी मुद्रा में बढ़ जाती है।

ऋणों की लेन-देन का परिणाम "दीर्घकालीन ऋणों" की तरह ही होता है, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है।

लाभांश तथा व्याज की लेन-देन : जहाँ तक लाभांश एवं व्याज की प्राप्ति का सम्बन्ध है अर्थात् दूसरे देशों से हमको लेना है, उस समय जब लाभांश एवं व्याज हमको मिलता है तब विदेशी मुद्राओं की पूर्ति बढ़ती हैं। परिणामस्वरूप विदेशी विनिमय की दर हमारे पक्ष में हो जाती है अर्थात् हमारी मुद्रा अधिक विदेशी मुद्राएँ खरीद सकती है। इसके विपरीत जब हम दूसरे देशों को व्याज एवं लाभांश का भुगतान करते हैं उस समय यह भुगतान करने के लिए विदेशी मुद्रा की आवश्यकता होती है; विदेशी मुद्रा की माँग हमारे यहाँ बढ़ जाती है। परिणामस्वरूप विनिमय-दर विदेशी मुद्रा में घट जाती है अथवा हमारे विपक्ष में होती है। उसी प्रकार ऋणों के भुगतान का परिणाम भी विनिमय-दर पर हमारे विपक्ष में ही होता है क्योंकि ऋणों के भुगतान के लिए विदेशी मुद्रा की माँग बढ़ जाती है।

२. चलन-परिस्थिति (Currency Conditions) : चलन की परिस्थिति मे चलनाधिक्य अथवा मुद्रा-संकोच, अवमूल्यन आदि का समावेश होता है। यदि किसी देश मे चलनाधिक्य (Over-issue) की सम्भावना है तो उस देश के व्यक्ति अपनी पूँजी बाहर लगाना चाहेंगे क्योंकि चलनाधिक्य से मुद्रा का अवमूल्यन हो जाता है अर्थात् उसकी क्रयशक्ति कम हो जाती है। परिणामस्वरूप विनिमय-दर उस देश के प्रतिकूल होगी अथवा विदेशी मुद्रा मे उस देश की मुद्रा का मूल्य गिर जायगा। किन्तु यदि किन्हीं कारणों से चलन के अधिमूल्यन (Appreciation) की सम्भावना है तो उस समय लाभ के हेतु विदेशी लोग भी उस चलन को खरीदने लगेंगे जिसके कारण विदेशी मुद्रा में इस देश की मुद्रा का मूल्य बढ़ जायगा तथा विनिमय-दर अनुकूल एवं पक्ष में होगी।

३. राजनैतिक परिस्थिति : राजनैतिक परिस्थिति में व्यापारिक सन्धियाँ, देश की व्यापारिक एवं संरक्षण (Tarrif) नीति, युद्ध, हड़ताल आदि का समावेश होता है। किसी देश में यदि किसी भी प्रकार से व्यापार में रुकावटें डाली जायेंगी तो उनका परिणाम विनिमय-दर पर होगा। इसी प्रकार युद्धजन्य परिस्थिति में मुद्रा का अवमूल्यन हो जाता है, क्रयशक्ति कम हो जाती है जिसकी वजह से विनिमय-दर भी ऐसे देश के प्रतिकूल हो जाती है। राजनैतिक परिस्थिति से देश की मौद्रिक नीति में भी परिवर्तन होता है जिसका परिणाम विनिमय-दर पर अधिक प्रभावशाली होता है। इसी प्रकार विदेशी विनिमय पर नियन्त्रण करने से भी विनिमय-दर प्रभावित होती है।

इस प्रकार विनिमय-दर को प्रभावित करने वाले घटक (Factors) पृष्ठ ११४ पर दी हुई सारणी से पूर्णतः स्पष्ट हो जायेंगे।

विदेशी विनिमय सम्बन्धी शब्द-प्रयोग

अनुकूल तथा प्रतिकूल अथवा पक्ष तथा विपक्ष में विनिमय-दर (Favourable and Unfavourable Rates of Exchange) : जब विनिमय-दर अपनी मुद्रा में व्यक्त की जाती हैं तब गिरती हुई विनिमय-दर हमारे अनुकूल होगी क्योंकि इस दर पर हम विदेशी मुद्रा के बदले में अपनी मुद्रा कम देंगे। इसके विपरीत यदि विनिमय-दर विदेशी मुद्रा में व्यक्त की जाती है तो चढ़ती हुई विनिमय-दर हमारे अनुकूल होगी क्योंकि इस अवस्था में हमारी मुद्रा अधिक विदेशी विनिमय खरीदेगी। उदाहरणार्थ, जब १ रु० = १६ पेंस है तो हमको १ पौंड ऋण चुकाने के लिए १५ रु० देने पड़ेंगे किन्तु जब विनिमय-दर विदेशी मुद्रा में बढ़कर १ रु० = १८ पेंस होती है तब हमको १ पौंड चुकाने के लिए केवल १३ रु० ५ आ० ४ पाई ही देने पड़ेंगे अर्थात् हमको १ रु० १० आ० ८ पाई का लाभ होगा। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि जिस दर पर स्वर्ण हमारे देश से निर्यात होगा वह दर हमारे लिए प्रतिकूल तथा जिस दर पर स्वर्ण का हमारे यहाँ आयात होगा वह दर हमारे लिए अनुकूल दर होगी। इससे यह स्पष्ट है कि विदेशी मुद्रा में जब विनिमय-दर व्यक्त की जाती है तब ऊँची दर अनुकूल तथा गिरती हुई दर प्रतिकूल होती हैं और जब हमारी मुद्रा में विनिमय-दर व्यक्त की जाती है तब नीची दर अनुकूल तथा ऊँची दर प्रतिकूल होती है।

इस प्रकार अनुकूल एवं प्रतिकूल विनिमय-दर से भिन्न-भिन्न व्यक्तियों पर भिन्न-भिन्न प्रभाव होता है।

विनिमय-दर को प्रभावित करने वाले घटक

विनिमय-दर में उच्चावचन के कारण

- विदेशी मुद्रा की माँग एवं पूर्ति
  - व्यापारिक परिस्थिति
    - य आयात-निर्यात
    - अदृश्य आयात-निर्यात
  - स्कन्ध-विनिमय परिस्थिति
    - विनियोग-पत्रों का क्रय-विक्रय
    - ऋणों की लेन-देन
    - व्याज तथा लाभांश की लेन-देन
  - अधिकोषण परिस्थिति
    - साख-पत्रों का क्रय-विक्रय
    - Arbitrage Dealings
    - अधिकोष अथवा अपहार-दर
- चलन की परिस्थिति
  - अवमूल्यन
  - अधिमूल्यन
- राजनैतिक परिस्थिति
  - संरक्षण नीति
  - युद्ध, हड़ताल आदि
  - विनिमय-नियन्त्रण

जब विनिमय-दर हमारे अनुकूल होती है अर्थात् हमारी मुद्रा के बदले में विदेशी मुद्राएँ अधिक मिलती हैं, उस समय विदेशों में हमारे मुद्रा की क्रय-शक्ति बढ़ती है अर्थात् उसी रकम से हम पहिले की अपेक्षा अधिक माल विदेशों से खरीद सकते हैं इसलिए आयातकर्त्ताओं को लाभ होता है तथा विदेशी माल हमारे देश में सस्ता होने से उपभोक्ताओं को भी लाभ होता है।

इसके विपरीत इस दर पर निर्यातकर्त्ताओं को हानि होती है क्योंकि विदेशों में हमारी मुद्रा महँगी होने से विदेशी मुद्रा की क्रयशक्ति हमारे यहाँ कम होती है अर्थात् हमारे यहाँ की खरीद उनको महँगी पड़ती है अतः निर्यात कम हो जाता है जिससे उत्पादक वर्ग को हानि होती है, उत्पादन कम हो जाता है तथा यह दर अधिक काल तक रहने से कारखाने बन्द हो जाते हैं और बेकारी बढ़ने लगती है।

विनिमय-दर की प्रतिकूल परिस्थिति में इसके विपरीत परिणाम होते हैं अर्थात् आयातकर्त्ताओं को हानि तथा निर्यातकर्त्ताओं को लाभ होता है और निर्यात बढ़ता है जिससे उत्पादन कार्य भी बढ़ता है तथा रोजगार भी बढ़ता है। इसलिए प्रतिकूल दर देश की आर्थिक उन्नति की दृष्टि से लाभदायक होती है।

ऊँची दर खरीदो, नीची दर बेचो (*Buy High and Sell Low*): जब विदेशी मुद्रा में देशी मुद्रा की विनिमय-दर व्यक्त की जाती है तब यह दर हमारे लिए अनुकूल होती है इसलिए जब विनिमय-दर बढ़ती है उस समय विदेशी विनिमय अथवा विदेशी मुद्राएँ खरीदना हमारे देशवासियों को लाभकर होगा इसलिए ऐसे समय में अधमर्णों को अपने ऋणों का भुगतान लाभकर होगा क्योंकि अपने ऋणों के भुगतान के लिए उनको देशी मुद्रा कम देनी पड़ेगी। इसके विपरीत जब दर नीची होती है उस समय हमारी मुद्रा के बदले विदेशी मुद्राएँ कम मिलती हैं इसलिए ऐसे समय अधिक देशी मुद्रा कमाने के लिए उत्तमर्णों को अपना भुगतान लेना लाभदायक होता है क्योंकि इससे उनको प्रति विदेशी मुद्रा के बदले अधिक देशी मुद्रा मिलेगी। इसलिए जब विनिमय-दर विदेशी मुद्रा में बढ़ती है तब विदेशी मुद्रा का क्रय लाभदायक तथा विक्रय हानिकर होता है।

इसी प्रकार जब विदेशी मुद्रा की विनिमय-दर हमारी मुद्रा में व्यक्त की जाती है उस समय ऊँची दर हमारे प्रतिकूल होती है तथा नीची दर अनुकूल। अर्थात् ऊँची दर पर यदि हम विदेशी मुद्रा बेचें तो हमको अधिक रुपये मिलेंगे तथा ऊँची दर पर विदेशी मुद्रा को खरीदने के लिए हमको अधिक

रुपये देने पड़ेंगे। अर्थात् इस समय विदेशी मुद्रा बेचना लाभदायक होगा। और जब यह दर नीची हो जाती है तो हमारी मुद्रा का मूल्य विदेशी मुद्रा में बढ़ जाता है अर्थात् यदि हम उस समय विदेशी मुद्रा हम खरीदें तो हमको कम रुपये देने पड़ेंगे तथा हमको रुपये में बचत होगी अतः नीची दर पर विदेशी मुद्रा खरीदना लाभदायक होगा। इसलिए जब विदेशी मुद्रा में हमारी मुद्रा की दर व्यक्त की जाती है उस समय "नीची दर खरीदो तथा ऊँची दर बेचो" यह कहना यथार्थ होगा।

इसीलिए यह भी कहा जाता है कि जितना अच्छा विपत्र होगा उतनी नीची विनिमय-दर पर वह बिकेगा (Better the Bill, Lower the Rate) अर्थात् जितना अच्छा विपत्र होगा उतनी ऊँची कीमत उसकी विदेशों में लगेगी—जब विनिमय-दर विदेशी मुद्रा में व्यक्त की जाती है। इसके विपरीत जब विनिमय-दर देशी मुद्रा में व्यक्त की जाती है उस समय जितना अच्छा विपत्र होगा उतनी ऊँची विनिमय-दर होगी (Better the Bill, Higher the Rate) अर्थात् विदेशों में उस विपत्र के बदले अधिक देशी मुद्राएँ मिलेंगी।

विनिमय-दर की वृद्धि तथा कमी (Rise and Fall in the Exchange) : जब अपनी मुद्रा का मूल्य विदेशी मुद्राओं में व्यक्त किया जाता है उस समय दर की वृद्धि का अर्थ है विदेशी मुद्राओं का अवमूल्यन (Depreciation) अर्थात् हमारी मुद्रा के बदले विदेशी मुद्रा अधिक मात्रा में मिलेगी। दर की कमी का मतलब है हमारी मुद्रा के सम्बन्ध में विदेशी मुद्राओं का अधिमूल्यन (Appreciation) अर्थात् हमारी प्रत्येक मुद्रा के बदले विदेशी मुद्रा कम मिलेगी। कभी-कभी इन शब्दों का प्रयोग विपरीत अर्थ में भी होता है अर्थात् जब विदेशी मुद्रा का मूल्य हमारी मुद्रा में व्यक्त होता है उस समय दर की वृद्धि का अर्थ होता है हमारी मुद्रा का विदेशी मुद्रा की तुलना में अवमूल्यन तथा दर की कमी का अर्थ है हमारी मुद्रा का विदेशी मुद्रा की तुलना में अधिमूल्यन।

विनिमय-दरों का वर्गीकरण

विनिमय-दर विशेषतः दो प्रकार की होती हैं :—

१. अल्पकालीन दर तथा २. दीर्घकालीन दर। इसमें तारप्रेषण-दर (Telegraphic Transfer Rate), दृश्य अथवा माँग विकर्ष

(Demand or Sight Drafts) की दर तथा कुछ निश्चित काल बाद शोधन होने वाले विकर्ष (Drafts) की दर का समावेश होता है जिनमें से पहिली दो अल्पकालीन दर तथा तीसरी दीर्घकालीन दर होती है जिनको क्रमशः तारप्रेषण दर, धनादेश दर तथा दीर्घकालीन दर कहते हैं।

तारप्रेषण-दर (T. T. Rate) : यह दर जो उस समय बाजार में विनिमय-दर होती है उसी के बराबर होती है। इस पद्धति से मुद्रा उत्तमर्ण को उतनी जल्दी प्राप्त हो सकती है जितनी जल्दी तार एक देश से दूसरे देश को पहुँचता है। यह दर सब दरों से सस्ती होती है तथा अन्य दरें इसी दर के आधार पर निकाली जाती हैं। इसमें तार का व्यय, जो व्यक्ति मुद्रा का परिवर्तन करता है उससे लिया जाता है। बहुधा तार-व्यय का समावेश तारप्रेषण-दर के अन्तर्गत होता है।

धनादेश-दर (Cheque Rate) अथवा दृश्य विकर्ष-दर (Sight Rate) : धनादेश-दर तारप्रेषण-दर से निकाली जाती है। जब कोई भी अधिकोष दूसरे देश में—मान लीजिये इङ्गलैंड में—धनादेश भेजता है उस समय या तो उस अधिकोष का रुपया इङ्गलैंड में जमा रहता है या वह तार द्वारा इङ्गलैंड में वहाँ की मुद्रा खरीद कर इङ्गलैंड के अधिकोष में जमा कर देगा और इस रकम पर वहाँ उसे अल्पकालीन व्याज-दर से व्याज मिलेगा। अब धनादेश-दर इस अल्पकालीन व्याज-दर तथा तारप्रेषण-दर पर निर्भर रहेगी। धनादेश यहाँ से इङ्गलैंड में डाक द्वारा ७ दिन में पहुँचेगा अर्थात् अधिकोष जिस दर से धनादेश बेचेगा वह दर तारप्रेषण-दर से ७ दिन व्याज कम करके बनेगी। इसी प्रकार जब विदेशी धन देश खरीदे जाते हैं तो तारप्रेषण-दर में से व्याज की दर कम करके धनादेश-दर निकाली जायगी।

दीर्घकालीन दर (Long Rate) : दीर्घकालीन दर विपत्रों के उस मूल्य को कहते हैं जो साधारणतः ३०, ६० अथवा ९० दिन बाद चुकाये जाते हैं। इनकी दर तारप्रेषण-दर में, जितनी अवधि के वे हैं उतनी अवधि का व्याज तथा वहाँ का मुद्रांक-कर (Stamp Duty) तथा आकस्मिक व्यय जोड़कर निकाली जाती है। जितनी कम अवधि का विपत्र होगा उतनी ही उसकी दर भी सस्ती होगी। यदि विनिमय-दर देशी मुद्रा में व्यक्त की जाती है तो तारप्रेषण-दर में से सामयिक व्याज, मुद्रांक-कर तथा आकस्मिक व्यय घटा कर दीर्घकालीन दर निकाली जाती है।

टेल-क्वेल-दर (Tel-quel Rate) : यह सामयिक विपत्रों की वास्त-

विक दर होती है। मान लीजिये एक विपत्र तीन महीने बाद देय (Payable) है परन्तु उसके दो महीने व्यतीत हो चुके हैं तो उस विपत्र की विनिमय-दर विदेशी मुद्रा में निकालने के लिए तारप्रेषण-दर में १ माह का व्याज जोड़ दिया जायगा तथा यदि देशी मुद्रा में विनिमय-दर व्यक्त की जाती है तो तारप्रेषण-दर में से यह व्याज घटा दिया जायगा।

अग्र विनिमय (Forward Exchanges)

युद्ध के बाद जब विभिन्न देशों में अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा का चलन प्रारम्भ हुआ उस समय विनिमय-दर में देशों की मौद्रिक, राजनैतिक एवं अधिकोषण परिस्थिति के अनुसार उच्चावचन भी होने लगे जिससे विनिमय-दर में अनिश्चितता रहने लगी। विनिमय-दर की अनिश्चितता से व्यापार में भी रुकावटें आने लगीं जिनका निवारण करने के लिए विदेशी मुद्राओं का अग्र विनिमय अथवा पहिले से ही क्रय-विक्रय करना शुरू हुआ जिससे व्यापारियों को विनिमय-दर के उतार-चढ़ाव से होने वाली हानियों को दूर किया गया। अग्र विनिमय का मुख्य हेतु विनिमय-दर के उच्चावचन से होने वाली हानियों को विदेशी मुद्रा के अग्र क्रय-विक्रय द्वारा कम करना है। अग्र विनिमय के व्यवहार विनिमय-अधिकोषों द्वारा किये जाते हैं।

उदाहरणार्थ, मान लीजिये एक भारतीय व्यापारी को, जो माल आयात करता है, इङ्गलैंड के किसी निर्यातकर्त्ता को १००० पौंड देना हैं जिनका भुगतान वह तीन या चार महीने बाद करेगा। ऐसी परिस्थिति में वह यह ठीक तरह नहीं जान सकता कि उसे तीन महीने बाद १००० पौंड के बदले कितने रुपये देने पड़ेंगे क्योंकि विनिमय-दर में अनिश्चितता होती है और इसलिए वह अपने आयात माल की कीमत भी नहीं निश्चित कर सकता। इसी प्रकार भारतीय निर्यातकर्त्ता यदि १००० पौंड का माल इङ्गलैंड को भेजता है तो वह यह ठीक से नहीं जानता कि उसे ३ महीने बाद कितने रुपये मिलेंगे तथा उसको निर्यात से लाभ होगा अथवा हानि। इसलिए ऐसी अवस्था में वह विनिमय-अधिकोष के पास जाकर विदेशी मुद्रा अर्थात् पौंड तीन महीने पहिले ही निश्चित दर पर बेच देगा जिस दर पर उसे तीन महीने बाद रुपयों में भुगतान मिल जायगा। इसी प्रकार भारतीय आयात-कर्त्ता विनिमय-अधिकोष के पास जाकर तीन महीने पहिले ही उसको जितनी विदेशी मुद्रा की आवश्यकता है उतनी खरीद लेगा, जिसका भुगतान वह इस निश्चित दर पर तीन महीने बाद खरीदेगा। इस प्रकार अग्र क्रय एवं अग्र विक्रय से आयातकर्त्ता तथा निर्यातकर्त्ता, उनको कितनी

रकम देना है अथवा लेना है, यह निश्चित कर लेते हैं क्योंकि यह व्यवहार अग्र निश्चित दर पर ही होंगे और विनिमय-दर के उच्चावचन का कोई भी परिणाम इन व्यापारियों के लेन-देन पर नहीं होगा। इसी प्रकार के अग्र विनिमय के व्यवहार प्रतिदिन करोड़ों के होते रहते हैं।

अग्र विनिमय-दर विनिमय की चालू दर होती है जिस दर पर विदेशी मुद्रा का तत्कालीन क्रय-विक्रय होता है। यदि अग्र विनिमय में देशी मुद्रा के बदले में कम विदेशी मुद्रा मिलती है तो विदेशी मुद्रा पर प्रव्याजि होती है (Foreign Currency is at a Premium)। इसी प्रकार जब देशी मुद्रा के बदले में अधिक विदेशी मुद्रा मिलती है उस समय विदेशी मुद्रा अपहार पर होती है (Foreign Money is at a Discount)। दूसरे शब्दों में, जब विदेशी मुद्रा में दर गिरती है तब देशी मुद्रा अपहार पर होती है तथा जब विदेशी मुद्रा में दर चढ़ती है तब देशी मुद्रा प्रव्याजि पर होती है। अग्र विनिमय में विदेशी मुद्रा का प्रव्याजि अथवा अपहार पर होना तीन बातों पर निर्भर है :—

१. देश-विदेशों की ब्याज की दर
   (Rate of interest at home and in foreign countries),

२. देश-विदेशों की चलन की परिस्थिति
   (Currecy conditions in different countries),

३. विदेशी मुद्रा के क्रय-विक्रय के परस्पर सम्बन्ध जोड़ना
   (Marrying a contract)।

१. देश-विदेश की ब्याज की दर : हम यह बता चुके हैं कि यदि किसी देश में अधिकोष-दर अथवा ब्याज की दर अन्य देशों की अपेक्षा अधिक है तब उस देश में विदेशी पूँजी आना विदेशियों को लाभकर होगा क्योंकि इससे वे अपनी पूँजी पर अधिक लाभ कमा सकते हैं। इसी प्रकार यदि विदेशों में ब्याज की दर हमारे देश से अधिक है तो हमारे यहाँ की पूँजी उन देशों में लगाना लाभदायक है। इसलिए अग्र विनियम-दर प्रव्याजि पर अथवा अपहार पर होगी, यह ब्याज की दर से निश्चित होता है। यदि विदेशों की ब्याज की दर हमारे यहाँ की दर से अधिक है तो हमारे यहाँ की पूँजी वहाँ जाना लाभदायक होगा इसलिए अग्र विनिमय-दर अपहार पर होगी अर्थात् देशी मुद्रा के बदले अधिक विदेशी मुद्रा खरीदी जा सकती है। इसी प्रकार यदि विदेशों की ब्याज की दर हमारे देश से कम होगी तो पूँजी हमारे देश

में आयगी। ऐसे समय अग्र विनिमय की दर प्रव्याजि पर होगी अथवा देशी मुद्रा के बदले में कम विदेशी मुद्रा मिलेगी।

२. चलन की परिस्थिति : किसी भी देश की मुद्रा के अवमूल्यन अथवा अधिमूल्यन पर भी विदेशी मुद्राओं के क्रय-विक्रय की अग्र विनिमय-दर निर्भर रहती है। यदि विदेशी मुद्रा में अवमूल्यन होने की सम्भावना है तो अधिकोष उस मुद्रा का अग्रिम क्रय करने के लिए अनिच्छुक होते हैं इसलिए अग्र विनिमय में विदेशी मुद्रा की दर प्रव्याज पर होती है। यदि अधिमूल्यम होने की सम्भावना है तो अग्र विनिमय में विदेशी मुद्रा अपहार पर होगी क्योंकि अधिकोष ऐसी मुद्रा को खरीदने के लिए इच्छुक होंगे।

३. विदेशी मुद्रा के क्रय-विक्रय के परस्पर सम्बन्ध जोड़ना : जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, कुछ लोग विदेशी मुद्रा वेचना चाहते हैं तथा कुछ विदेशी मुद्रा अग्रिम खरीदना चाहते हैं। ऐसे समय में अधिकोष बीच में आकर एक जगह विदेशी मुद्रा खरीदते हैं तथा दूसरे देश में वही मुद्रा बेच देते हैं और ऐसे क्रय-विक्रय से वे लाभ कमाते हैं। इस प्रकार एक देश का क्रय दूसरे देश के विक्रय से सम्बन्धित किया जाता है। ऐसे परस्पर सम्बन्ध की सम्भावना जितनी अधिक होती है उतनी ही अग्र विनिमय में विदेशी मुद्रा अपहार पर होगी अर्थात् देशी मुद्रा के बदले में अधिक विदेशी मुद्रा मिलेगी और परस्पर क्रय-विक्रय के सम्बन्ध के जितने कम अवसर होंगे उतनी ही विदेशी मुद्रा प्रव्याजि पर होगी।

इस प्रकार के अग्र विनिमय होते रहने के कारण विनिमय-दर में उच्चावचन कम होते हैं। इस प्रकार के व्यवहार केवल व्यापारिक कार्यों के लिए ही न होते हुए परिकल्पित (Speculative) कार्यों की दृष्टि से भी होते हैं।

विनिमय-दर का संशोधन (Correction of Exchanges)

निनिमय-दर में उच्चावचन होने के मूलतः तीन कारण होते हैं :—पहिले, चलन में अवमूल्यन होने से; दूसरे, व्यापारिक सन्तुलन (Trade Balance) विपक्ष में होने से ; तथा तीसरे, व्याज एवं अधिकोष-दर में वृद्धि होने से। जब चलन में अवमूल्यन के कारण विनिमय-दर-समता नीचे गिरने लगती है उस समय चलन में सुधार करने से विनिमय-दर स्थिर की जाती है। दूसरे, जब व्यापारिक सन्तुलन विपक्ष में होने से विपत्रों की पूर्ति की अपेक्षा माँग

बढ़ती है और विनिमय-दर गिरने लगती है तो विनिमय-दर का संशोधन स्वर्ण के निर्यात से दीर्घकालीन अवधि में स्वयं ही हो जाता है। किन्तु स्वर्ण-निर्यात की जब सम्भावना ही नहीं होती उस समय नियन्त्रण द्वारा विनिमय-दर में स्थिरता लाई जाती है। तीसरे, विनिमय-दर में जब ब्याज अथवा अधि-कोष-दर की वृद्धि अथवा कमी के कारण उच्चावचन होता है उस समय विनिमय-दर का संशोधन मौद्रिक विपणि (Money Market) में ब्याज अथवा अधिकोष-दर के नियमन (Regulations) से किया जाता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में विनिमय-दर के उच्चावचन का संशोधन किया जाता है।

विनिमय-नियन्त्रण (Exchange Control)

विनिमय-दर में जब अधिक उच्चावचन होने लगता है तथा उसमें स्थिरता नहीं रहती, उस समय सरकार द्वारा विनिमय पर नियन्त्रण लगाया जाता है जिसकी दो पद्धतियाँ हैं :—एक तो देश के आयात-निर्यात का विभिन्न उपायों द्वारा इस प्रकार नियमन करना जिससे दर की वृद्धि अथवा कमी सीमित रहे अथवा दूसरे, विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय सरकार द्वारा निश्चित दरों पर किया जाना। इन दोनों ही पद्धतियों के नियन्त्रण का मूल हेतु विनिमय-दर के उच्चावचन को सीमित रखना होता है। इसके अतिरिक्त विनिमय-नियन्त्रण के अन्य हेतु निम्नलिखित हैं :—

१. देश से पूँजी के बाहर जाने पर प्रतिबन्ध लगाना अथवा अधिकोषों के स्वर्ण-निधि को स्वर्ण-निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाकर कम न होने देना, तथा

२. विदेशी मुद्रा की बढ़ती हुई माँग पर प्रतिबन्ध लगाकर उसकी पूर्ति बढ़ाना।

विदेशी विनिमय पर नियन्त्रण लगाने की भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ हैं :—

विदेशी व्यापार का नियमन (Regulation of Foreign Trade) : देश में आयात वस्तुओं पर संरक्षक कर लगाने से आयात कम हो जाता है। ऐसे कर अनावश्यक वस्तुओं पर लगाये जाते हैं अथवा देश के उत्पादन का निर्यात हो सके इसलिए आर्थिक सहायता (Bounties) द्वारा उनका निर्यात बढ़ाया जाता है। आयात एवं निर्यात के लिए व्यापारियों को सनद (Licenses) लेने पड़ते हैं जिनके बिना वे न आयात कर सकते हैं और न निर्यात। अर्थात् प्रत्येक वस्तु के आयात-निर्यात की निश्चित मात्रा अथवा निश्चित वजन ठहरा दिया जाता है जिससे अधिक न किसी वस्तु का आयात

हो सकता है और न किसी वस्तु का निर्यात। इस प्रकार व्यापार में रुकावटें डालने से व्यापारिक शेष अपने पक्ष में करके विनिमय-दर में स्थिरता लायी जाती है।

२. विदेशी विनिमय का नियन्त्रित वितरण (Rationing of Foreign Exchange): ऐसी परिस्थिति में सरकार अथवा केन्द्रीय अधिकोष विदेशी विनिमय का निश्चित दरों पर क्रय-विक्रय करती है और कुछ अधिकृत कार्यों अथवा व्यवहारों के लिए ही विदेशी विनिमय बेचा जाता है। यह कार्य युद्ध-काल में भारत में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का था।

३. विनिमय-समकरण प्रणीवि अथवा लेखा (Exchange Equalisation Fund or Account): विनिमय-दर में जब अधिक उच्चावचन होते हैं उस समय विनिमय-दर को निश्चित स्तर पर स्थिर रखने के लिए इस प्रणीवि की सहायता से विदेशी मुद्राओं का क्रय-विक्रय किया जाता है। इस प्रकार की प्रणीवि का निर्माण इंग्लैंड में १९३२ में १५०० लाख पौंड कोष विपत्र में तथा स्वर्ण में रख कर किया गया था। १९३३ में यह रकम ३५०० लाख पौंड तथा १९३७ में ५५०० लाख पौंड कर दी गई थी। किसी भी समय स्टर्लिङ्ग की माँग पूर्ति की अपेक्षा अधिक होने से जब स्टर्लिङ्ग की विनिमय-दर बढ़ने लगती तो इस प्रणीवि द्वारा विदेशों में विदेशी मुद्रा खरीदी जाती थी जिससे विनिमय-दर बढ़ने से रोक दी जाती थी और जो विदेशी मुद्रा खरीदी जाती थी उसे विदेशी अधिकोषों में निधि (Reserve) के रूप में जमा कर दिया जाता था। इसके विपरीत जब स्टर्लिङ्ग की पूर्ति अधिक होती थी एवं माँग कम, और स्टर्लिङ्ग-दर गिरने लगती थी, उस समय विदेशी निधि में से स्टर्लिङ्ग खरीदा जाता था जिससे स्टर्लिङ्ग की माँग बढ़ जाती थी और विनिमय-दर गिरने से रोक दी जाती थी। इस प्रकार इस प्रणीवि की कार्य-पद्धति द्वारा विनिमय-दर के उच्चावचन सीमित किये जाते थे। इस प्रकार की प्रणीवि अमेरिका, फ्रान्स आदि देशों में भी रखी गई थी।

४ अधिकोष-दर का नियमन: अधिकोष-दर का प्रभाव पूँजी के आयात-निर्यात पर किस प्रकार होता है इसका वर्णन हम पहिले कर चुके हैं। पूँजी के आयात-निर्यात में आवश्यकतानुसार अधिकोष-दर को कम या अधिक करने से विनिमय-दर के उच्चावचन को रोका जाता था।

५. विदेशी लेखाओं का बन्द करना (Blocking the Accounts of Foreigners in the Home Country): हमारे

देश में विदेशी व्यापारियों की कुछ न कुछ पूँजी लगी रहती है। उसी प्रकार उनकी रकम हमारे अधिकोषों में भी जमा रहती है। ऐसे विदेशी लेखाओं को बन्द कर दिया जाता है तथा विदेशी पूँजी के बाहर जाने पर रोक लगादी जाती है जिससे विदेशी हमारे देश से अपनी रकम नहीं निकाल सकते। हमारे देश में जो रकमें जमा हैं उनका उपयोग विदेशी लोग कुछ विशेष कार्यों के लिए ही कर सकते हैं, जिसके लिए सरकार उन्हें अनुमति देती है। इस प्रकार लेखा बन्द करने से विदेशी पूँजी हमारे देश से बाहर नहीं जा सकती जिससे विनिमय-दर के उच्चावचन भी रोके जा सकते हैं।

६. 'जैसे थे' करार (Stand-still Agreements) : 'जैसे थे' करार के अनुसार एक देश से दूसरे देश में जो पूँजी का आवागमन होता है उसको उन देशों में आपसी करार होने से रोक दिया जाता है जिससे विनिमय-दर स्थिर रखने में सहायता होती है। इन करारों में विदेशी व्यापारियों के क्रमशः भुगतान किस प्रकार हों इसका भी स्पष्टीकरण होता है। इस पद्धति का उपयोग जर्मनी में १९३१ के बाद किया गया था।

७. इसके अतिरिक्त विनिमय-नियन्त्रण की एक और पद्धति है जिसके अनुसार विदेशियों के ऋणों का भुगतान देश के अधिकृत अधिकोष को देशी मुद्रा में हो किया जाता है, जिसका भुगतान विदेशियों को कुछ निश्चित अवधि के बाद—जो करार से ठहराई जाती है—किया जाता है। इसको परिवर्तन विलम्बकाल (Transfer Moratoria) कहते हैं।

८. निष्कासन करार (Clearing Agreements) : इसमें दो देशों में आपसी करार द्वारा एक-दूसरे के ऋणों का भुगतान करार की शर्तों के अनुसार किया जाता है। इस पद्धति में दोनों देशों में आयातकर्त्ता अपने माल का भुगतान उस देश के अधिकृत अधिकोषों को देशी मुद्राओं में करते हैं। यही अधिकोष देशी निर्यातकर्त्ताओं को उनका भुगतान कर देते हैं। इस प्रकार मुद्राओं का स्थानान्तरण न होते हुए दोनों का भुगतान हो जाता है। करार के द्वारा विनिमय-दर निश्चित होती है तथा व्यापारिक सन्तुलन सरकार के हस्तक्षेप द्वारा आवश्यकतानुसार ठीक किया जाता है।

विनिमय-स्थैर्य तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-प्रणीवि

१९४४ की ब्रेटनवुड परिषद के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-प्रणीवि की स्थापना से विनिमय-दर की स्थिरता का कार्य अधिक सरल हो गया है। इस प्रणीवि का मूल उद्देश्य ही अपने सभासद राष्ट्रों के बीच विनिमय-दर

को स्थिर रखना, प्रतिस्पर्धात्मक विनिमय-अवमूल्यन (Competitive Exchange Fluctuations) को न होने देना और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वृद्धि करना है। प्रणीवि का मुख्य कार्य अपने सभासद राष्ट्रों की मुद्राओं का निश्चित दर पर क्रय-विक्रय करना है। इनके लिए सभासद राष्ट्रों की मुद्रा का मूल्य स्वर्ण से सम्बन्धित कर दिया गया है। एक वर्ष में अधमर्ण राष्ट्रों को उनका जो अभ्यंश (Quota) जमा है उससे दूनी रकम के बराबर दूसरे देश की मुद्रा मिल सकती है किन्तु इससे अधिक विदेशी ऋण होने पर उनको आयात पर प्रतिबन्ध लगाने पड़ेंगे। इस प्रकार स्वर्ण-निर्यात नहीं होने दिया जाता।

इस प्रणीवि के, भारत और पाकिस्तान को मिलाकर, कुल ४६ सदस्य हैं। प्रणीवि किसी भी देश की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं करेगा किन्तु किसी भी देश की मुद्रा का अवमूल्यन अथवा अधिमूल्यन बिना प्रणीवि की अनुमति के नहीं हो सकता। इस प्रणीवि की स्थापना से अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के सब लाभ इसके सदस्यों को उपलब्ध हैं। (इस प्रणीवि का पूर्ण विवेचन आगे किया गया है।)

प्रश्न

१. एक देश की मुद्रा का मूल्य दूसरे देश की मुद्रा मे किस प्रकार निश्चित होता है, बताइये।

२. टंक-समता क्या है ? इसका पूर्ण विवेचन करते हुए यह भी बताइये कि स्वर्ण-बिन्दुओं से विनिमय-दर क्यो सीमित होती है ?

३. रुपया-स्टर्लिंग की विनिमय-दर किस प्रकार निश्चित होती है ? क्या स्टर्लिंग-विनिमय-मान में कुछ बुराइयाँ भी हैं ?

४. क्रयशक्ति-समता सिद्धान्त का स्पष्टीकरण कीजिये। उसमें कौनसी त्रुटियाँ हैं ?

५. दो देशों के बीच विनिमय-दर किन-किन बातों पर निर्भर रहती है ? विनिमय-दर पर विदेशी ऋणों की लेन-देन का क्या प्रभाव पड़ता है ?

६. विनिमय-दर में उच्चावचन होने के क्या कारण है ? उन कारणों से विनिमय-दर किस प्रकार प्रभावित होती है ?

७. विनिमय-नियन्त्रण से आप क्या समझते हैं ? विनिमय-नियन्त्रण के हेतु तथा उसकी विभिन्न विधियों का स्पष्टीकरण कीजिये।

८. विनिमय-दर के स्थैर्य में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-प्रणीवि से किस प्रकार सहायता होती है ?

९. टिप्पणियाँ लिखिये :—

अ. तारप्रेषण-दर।

इ. धनादेश-दर।

उ. दीर्घकालीन दर।

ए. स्वर्ण-निर्यात-विन्दु तथा स्वर्ण-आयात-विन्दु।

क. अनुकूल विनिमय एवं प्रतिकूल विनिमय।

ख. विनिमय-संशोधन।

१०. अग्र विनिमय क्या है ? अग्र विनिमय के लाभ बताते हुए, अग्र विनिमय दर किन बातों पर निर्भर रहती है यह भी बताइये।

११. Arbitrage Dealings क्या हैं ? उनके प्रकार बताइये। उनका विनिमय-दर पर कैसे प्रभाव पड़ता है ?

अध्याय ११

भारतीय चलन का इतिहास (१)

(१८६३ से १६१४ तक)

भारतीय चलन के इतिहास का विवेचन करने के पूर्व यहाँ की गत कुछ शताब्दियों की चलन-पद्धति का सन्दर्भ देना आवश्यक है। हमारे यहाँ हिन्दू काल में भी स्वर्ण तथा चाँदी की मुद्राओं का उपयोग बहुलता से होता था तथा मुसलमानों के आगमन के बाद उन्होंने भी यहाँ पूर्व पद्धति को ही अपनाया किन्तु अकबर के शासनकाल में भारत में रौप्यमान का अवलम्बन हुआ तथा चलन में एकता लाई गई। मुगल बादशाहत के अन्त के बाद इस एकता का भी विनाश हुआ तथा भिन्न-भिन्न राज्यों की स्वतन्त्रता के साथ उन्होंने अलग-अलग टंकशालाएँ स्थापित की जिससे भिन्न-भिन्न मुद्राओं का एवं मूल्यमापकों का उदय हुआ। फिर भी आन्तरिक एवं विदेशी व्यापार में विशेषतः चाँदी का रुपया ही मूल्यमापन का कार्य करता रहा किन्तु इस रुपये की शुद्धता तथा वजन में भिन्न-भिन्न राज्यों में भिन्नता थी जिसके कारण व्यापारिक व्यवहारों का भुगतान चाँदी की शुद्धता तथा वजन से होता था। इसके पश्चात् जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत की राजकीय बागडोर सँभाली उस समय भारत में स्वर्ण तथा रौप्य के मिलाकर लगभग ६६४ प्रकार के सिक्के चलन में थे जिनका परिवर्तन एक-दूसरे के साथ उनके वजन तथा शुद्धता के अनुसार सर्राफ-साहूकारों द्वारा किया जाता था। इस कारण व्यापारिक व्यवहारों में सन्दिग्धता एवं रुकावटें अनुभव होती थीं।

इस सन्दिग्धता को दूर करने के लिए सर्वप्रथम १८१८ मे मद्रास में चाँदी के तथा स्वर्ण के नये सिक्के चलाये गये। चाँदी के रुपये का वजन १८० ग्रेन था जिसमें ११/१२ भाग अर्थात् १६५ ग्रेन शुद्ध चाँदी होती थी। १८३५ में मद्रास के रुपये की तरह ही अपने राज्य में, मुद्रा में एकता लाने के हेतु, रुपये की मुद्रा का चलन प्रारम्भ किया गया तथा इस रुपये को असीमित विधि-ग्राह्य घोषित किया गया। १८३५ से यही भारत का प्रमाणित सिक्का बनाया गया जिसका मुक्त टंकण होता था। स्वर्ण के सिक्के ब्रिटिश भारत में अवैध

घोषित किये गये। इस प्रकार ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत में रौप्यमान का अवलम्बन किया जो १८७१ तक ठीक तरह कार्यरूप में रहा किन्तु १८७१ में विश्व की परिस्थिति में महान् परिवर्तन हुए जिनके कारण रुपये का स्वर्ण-मूल्य गिरने लगा। यह मूल्य १८७१ में २ शि० प्रति रुपया से गिरकर १८६२ में १ शि० २ पेंस प्रति रुपया रह गया।

रुपये का स्वर्ण-मूल्य गिरने के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं :—

१. इस अवधि में १८४८ में पाई गई आस्ट्रेलिया और केलिफोर्निया की खानों का स्वर्ण लगभग निकल चुका था जिससे स्वर्ण अब बहुत कम मात्रा में उपलब्ध होता था। स्वर्ण की इस कमी के कारण स्वर्ण का मूल्य बढ़ने लगा तथा दूसरी ओर स्वर्ण की तुलना में चाँदी का मूल्य गिरने लगा।

२. दूसरे, अमेरिका के नेवादा (Nevada) में चाँदी की समृद्ध खानों की खोज हुई जिससे बहुत अधिक मात्रा में चाँदी निकाली गई तथा बाजार में आई। परिणामतः चाँदी की बहुलता से उसका मूल्य और भी गिरने लगा।

३. इसी समय १८७०-७१ में जर्मनी की फ्रान्स पर युद्ध में विजय हुई तथा हानिपूर्ति के लिए फ्रान्स ने स्वर्ण देना तय किया। जर्मनी ने अपनी विजय रौप्य का परित्याग कर तथा स्वर्ण को धातुमान बना कर मनाई। परिणाम यह हुआ कि जर्मनी से चाँदी बाजार में बिकने के लिए आई। यह मात्रा १८७३ से १८७६ तक लगभग ११ करोड़ औंस से अधिक थी। जर्मनी के स्वर्णमान अपनाने के बाद इटली, स्वीडन, आस्ट्रेलिया आदि देशों ने भी उसका अनुकरण किया जिसके कारण चाँदी का मूल्य अधिकाधिक गिरता गया।

४. इसके अतिरिक्त सीसा (Lead) नामक धातु से रसायनिक क्रिया द्वारा चाँदी का पृथक्करण किया जाने लगा तथा रौप्य बनने लगा जो बाजारों में बिकने के लिए आने लगा जिसके कारण स्वर्ण और चाँदी के परस्पर मूल्य-सम्बन्ध बिगड़ने लगे एवं चाँदी का मूल्य स्वर्ण में गिरने लगा।

इन सब कारणों से चाँदी का मूल्य १८६२ में १ शि० २ पेंस रह गया जो भारतीय व्यापारियों की दृष्टि से तथा सरकार के राजस्व (Finances) की दृष्टि से हानिकर था क्योंकि सरकार को प्रतिवर्ष गृह-व्यय के रूप में लम्बी रकम इंगलैण्ड को देनी पड़ती थी जिससे भारत सरकार को अब पहिले की अपेक्षा अधिक रुपये देने पड़ते थे जिसके लिए कर बढ़ाने की आवश्यकता थी

जो प्रतिवर्ष बढ़ाना असम्भव था। इसके साथ ही, व्यापारियों की दृष्टि से, चाँदी का स्वर्ण-मूल्य गिरने से विदेशी मुद्रा में भी भारतीय सिक्के का मूल्य गिर गया। जब विनिमय-दर गिरने लगती हैं तो निर्यात बढ़ते हैं तथा आयात कम होते हैं। जब यह विनिमय-दर १ शि० २ पेंस रह गई तब इसका मतलब था : उतना ही माल इंगलैंड से खरीदने के लिए अधिक रुपये देना। अर्थात् आयात माल यहाँ पर महँगा होने से आयात घट गया और विदेशी व्यापारियों को भारत से अब उतनी ही मुद्रा में अधिक माल उपलब्ध होने के कारण निर्यात बढ़ने लगा। यह बढ़ता हुआ निर्यात-व्यापार विदेशियों को खटकने लगा। विनिमय-दर की अनिश्चितता के कारण व्यापार में भी अनिश्चितता आ गई। इन सब कारणों से १८७३ की विश्व-मन्दी ने भी जोर कसा। सरकार को अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए अधिकाधिक रुपयों की आवश्यकता पड़ी और अड़चनें अनुभव होने लगीं। इन सब कारणों के फलस्वरूप जनता ने स्वर्णमान के अवलम्बन के लिए आवाज बुलन्द की और सरकार ने १८७८ में ब्रिटिश पार्लियामेण्ट में स्वर्णमान अपनाने का प्रस्ताव भेजा, जो बेकार साबित हुआ। १८९१ में भारत सरकार ने फिर प्रस्ताव भेजा जिसमें यह कहा गया कि चाँदी का मुक्त टंकण बन्द कर दिया जाय जिससे रुपयों की कमी से उसका स्वर्ण-मूल्य तथा विनिमय-दर बढ़ने लगेगी। इसके साथ ही स्वर्णमान अपनाने का प्रस्ताव भी किया गया था।

हर्शेल समिति

१८९२ में भारत सरकार के प्रस्ताव पर विचार करने के लिए एक भ्रलान-समिति लॉर्ड हर्शेल की अध्यक्षता मे नियुक्त की गई जो हर्शेल कमेटी के नाम से प्रसिद्ध है। उन्होंने कुछ सुधार के साथ भारत सरकार के प्रस्ताव का समर्थन निम्नलिखित सिफारिशों में किया :—

१. चाँदी का मुक्त टंकण बन्द किया जाय जिससे जनता अपनी आवश्यकतानुसार टंकशाला पर जाकर चाँदी का रुपयों में परिवर्तन न करा सके। किन्तु सरकार को यह अधिकार होगा कि वह रुपयों का गठन सोने के बदले प्रति रुपया १ शि० ४ पेंस अथवा ७·५३३४४ ग्रेन के हिसाब से करे।

२. स्वर्ण की मुद्राएँ सरकारी कोषों में १ शि० ४ पेंस की दर से स्वीकृत की जायँ।

३. रुपये की असीमित विधिग्राह्यता बनी रहे।

इन सिफारिशों में स्वर्णमान के अपनाने के लिए कोई भी योजना नहीं थी किन्तु यह सोचा गया था कि जब रुपये का मूल्य १ शि० ४ पेंस की दर पर स्थापित हो जाय तब स्वर्णमान को अपनाया जाय ; इस बीच भारत सरकार स्वर्ण-निधि का नियोजन करे।

इन सिफारिशों को कार्यरूप में परिणत करने के लिए १८९३ में एक विधान स्वीकृत किया गया जिसके द्वारा १८७० के कॉइनेज एक्ट तथा १८८२ के इण्डियन पेपर करेन्सी एक्ट का संशोधन किया गया जिसके द्वारा टंकशालाएँ जनता के लिए बन्द कर दी गयीं तथा सरकार द्वारा तीन घोषणाएँ की गईं :—

१. सॉवरेन तथा अर्धसॉवरेन, सरकार को उसके भुगतान में, १५ रु० तथा ७॥) रु० की दर से दिये जा सकते थे।

२. स्वर्ण एवं स्वर्ण के सिक्कों का रुपयों में प्रति रुपया ७·५३३४४ ग्रेन स्वर्ण अथवा १ शि० ४ पेंस की दर से परिवर्तन हो सकता था।

३. स्वर्ण एवं स्वर्ण-मुद्राओं के बदले उपर्युक्त दर पर पत्र-मुद्राएँ चलाने का अधिकार बम्बई तथा कलकत्ता की टंकशालाओं को दे दिया गया।

इसके परिणामस्वरूप रुपये की पूर्ति कम हो गई जिसके कारण रुपये का मूल्य बढ़ गया और अब चाँदी के मूल्य से रुपये में चाँदी की कमी होते हुए भी उसका मूल्य बढ़ गया और सरकार को रुपये के टंकण से लाभ बढ़ गया। दूसरे, मुद्रा का प्रसार तथा संकोच का एकमेव अधिकार सरकार को मिल गया जिसके कारण मुद्रा-पद्धति की स्वयंपूर्णता (Automatic Working) नष्ट हो गई किन्तु विनिमय-दर की स्थिरता के लिए तथा रुपये की मूल्य-वृद्धि के लिए यह आवश्यक था। रुपये का मुक्त टंकण बन्द होते ही रुपये का मूल्य बढ़ने लगा जो क्रमशः १८९८ में १ शि० ४ पेंस हो गया।

इसके बाद जनवरी १८९८ में रुपये की कमी को दूर करने के लिए १८९८ का विधान २ (Act II of 1898) स्वीकृत किया गया, जिसके अनुसार २१ जनवरी १८९८ को घोषणा की गई कि भारत सरकार भारत-सचिव के पास जो सोना जमा है उसके बदले में ७·५३३४४ ग्रेन स्वर्ण प्रति रुपये की दर से पत्र-मुद्रा चलाएगी। इस घोषणा के अनुसार भारत में भुगतान के लिए रुपये के विपत्र (Rupee or Council Bills) कलकत्ता, मद्रास तथा बम्बई पर भेजे जाने लगे। इसका एक उद्देश्य यह भी था कि

भारत में भारतीय उत्तमर्णों के भुगतान के लिए स्वर्ण का बहिर्गमन न हो किन्तु बहाना यह किया गया कि इससे भारत सरकार के गृह-व्यय के लिए भारत-सचिव को रकम मिलेगी। यह कार्य-पद्धति पहिले केवल ६ महीने के लिए ही थी किन्तु फिर इसकी अवधि दो वर्ष के लिए बढ़ादी गई थी।

फाउलर समिति

इस प्रकार विनिमय-दर में स्थिरता आ जाने के बाद—जो हर्शेल समिति का मूल उद्देश्य था—एक दूसरी समिति सर हेनरी फाउलर की अध्यक्षता में बनाई गई जो पहिली सिफारिशों के कार्यों का अध्ययन कर स्वर्णमान के अवलम्बन की निश्चित योजना प्रस्तुत करे तथा अभी तक अपनी राय देते हुए एक निश्चित मौद्रिक अथवा चलन नीति (Monetary or Currency Policy) अपनाने में मार्ग-प्रदर्शन करे।

भारत में स्वर्ण अथवा मुद्राएँ विधिग्राह्य नहीं थीं किन्तु सरकारी भुगतान में स्वर्ण अथवा स्वर्ण-मुद्राएँ १ शि० ४ पेंस अथवा ७·५३३४४ ग्रेन प्रति रुपये की दर से ली जाती थीं। रुपये एवं स्वर्ण में किसी प्रकार से वैधानिक सम्बन्ध न था किन्तु उपर्युक्त दर से स्वर्ण के बदले, सरकारी सूचनानुसार, रुपये खरीदे जा सकते थे तथा रुपया ही भारत की एकमेव प्रमाणित मुद्रा एवं असीमित विधिग्राह्य मुद्रा थी। भारतीय चलन-पद्धति की यह स्थिति फाउलर समिति की नियुक्ति के समय थी। समिति के सामने विचारार्थ तीन मुख्य बातें थीं :—

१. भारत सरकार का प्रस्ताव जिसमें भारत सरकार ने कहा था कि भारत में रुपये की आवश्यकता से अधिक बहुलता है जिसे रुपये गलाकर चाँदी मे बेच देने से कम किया जा सकता है, जिससे रुपये का मूल्य १६ पेंस पर स्थिर रहे; तथा इङ्गलैंड मे ऋण द्वारा एक स्वर्ण निधि बनाना, जिससे रुपये को गलाकर चाँदी के रूप में बेचने से जो हानि हो उसकी पूर्ति हो सके; तथा स्वर्णमान को अपनाना।

२. इस प्रस्ताव के अनुसार भारत में स्वर्णमान हो अथवा रौप्यमान तथा स्वर्ण और चाँदी के बीच क्या सम्बन्ध हो ?

३. बैंक ऑफ बंगाल के उपसचिव श्री० ए० एम० लिंडसे की स्वर्ण-विनिमय-मान की योजना। "इस योजना के अनुसार १० करोड़ पौंड का ऋण इङ्गलैंड से लेकर उसे इण्डिया आफिस अथवा बैंक ऑफ इङ्गलैंड में

जमा किया जाय। इस निधि का नाम स्वर्ण-मान-निधि हो और इसका उपयोग 'स्वर्णमान कार्यालय' जो लन्दन में हो उसके द्वारा किया जाय। यह कार्यालय इङ्गलैंड के आयातकर्त्ताओं को रुपया-विपत्र १५,००० रु० के ऊपर स्टर्लिंग के बदले १ शि० ४$\frac{1}{16}$ पेंस प्रति रुपये की दर से बेचे। ये विपत्र भारतीय टंकशालाओं पर अथवा बम्बई, कलकत्ता के पत्र-चलन कार्यालयों द्वारा चुकाये जायँ।"

फाउलर समिति ने इन सब प्रस्तावों पर विचार किया तथा उन्होंने रुपये के अप्रतिरोध टंकण सम्बन्धी प्रस्ताव को अस्वीकृत किया तथा निम्न-लिखित सिफारिशें की :—

१. रुपये का विनिमय-मूल्य १ रु० = १ शि० ४ पेंस अथवा १५ रु = १ सॉवरेन हो।

२. ब्रिटिश सॉवरेन को विधिग्राह्य चालू मुद्रा बनाया जाय तथा भारतीय टंकशालाओं में स्वर्ण-मुद्रा का अप्रतिरोध टंकण हो तथा ये रुपये के साथ-साथ १५ रुपये प्रति सॉवरेन की दर से चलन में लग जायें।

३. सरकार रुपये के टंकण से होने वाला लाभ 'स्वर्णमान-निधि' नामक निधि में जमा करे जो रुपये का मूल्य १६ पेंस पर स्थिर रखने के लिए तथा आवश्यकता पड़ने पर विदेशी भुगतान के लिए भी उपयोग में लिया जाय।

४. रुपये के नए सिक्के, जब तक स्वर्ण जनता की आवश्यकता से अधिक न हो, तब तक न ढाले जायें।

इस प्रकार फाउलर समिति ने अपूर्ण द्विधातुमान पद्धति अपनाने की सिफ़ारिश की थी हालाँकि उसका ध्येय स्वर्ण-मुद्राओं का चलन तथा स्वर्ण-मान ही था[1] क्योंकि इसमें दोनों ही धातुओं की मुद्राएँ प्रमाणित होतीं किन्तु अप्रतिरोध टंकण-स्वातन्त्र्य केवल स्वर्ण को ही प्राप्त था।

भारत-सचिव ने इस प्रस्ताव को स्वीकृत किया किन्तु उनका प्रयोग कुछ निराले ढंग पर ही किया गया। सबसे प्रथम १८९९ के भारतीय टंकण

---

[1] *"Under an effective Gold Standard rupees would be token coins, subsidiary to the Sovereign. But existing conditions in India do not warrant the imposition of a limit on the amount for which they should constitute a legal tender."*

" " 'Indian Currency and Exchange' by Bhatnagar. P. 19.

विधान (Indian Coinage Act of 1899) के द्वारा सॉवरेन और अर्धसॉवरेन १५ रु० प्रति पौंड की दर से भारत में विधिग्राह्य बनाये गये। स्वर्ण-टंकण के लिए नई टंकशाला खोलने की सिफारिश पर कोई भी कार्य-वाही नहीं की गई क्योंकि शाही टंकशाला (Royal Mint) ने इसके लिए अनुमति नहीं दी। दूसरे, रुपये के टंकण सम्बन्धी चौथी सिफारिश के विरुद्ध रुपयों का १९०० ई० में टंकण शुरू किया गया क्योंकि सरकार जनता को स्वर्ण-मुद्राओं के उपयोग के लिए लालायित न कर सकी। तीसरे, रुपये के टंकण-लाभ से जो स्वर्ण-निधि बनाया गया था उसको भारत-सचिव ने इंगलैंड में रखा तथा उसका विनियोग स्टर्लिंग प्रतिभूतियों (Sterling Securities) को खरीदने में किया गया और उसका कुछ अंश भारत में रुपयों में रखा गया। इसके साथ ही इस निधि में से १० लाख पौंड कीमत का स्वर्ण रेल्वे के पूँजी-व्यय (Capital Expenditure) के लिए लिया गया, जो सब समितियों की सिफारिशों के विरुद्ध था। इसके साथ-साथ भारतीय व्या-पारिक शेष अनुकूल होते हुए भी भारत-सचिव ने रुपया-विपत्रों के विक्रय द्वारा भारत में स्वर्ण नहीं आने दिया। इन सब कारणों से १९०७-१९०८ में अकालजन्य परिस्थिति से भारत का व्यापारिक शेष प्रतिकूल हुआ और विदेशी भुगतान के लिए स्वर्ण की माँग बढ़ी तब भारत सरकार ने अपनी असमर्थता दिखाई जिसके परिणामस्वरूप भारत-सचिव ने भारतवर्ष में स्टर्लिंग-विपत्र अथवा उल्टी हुण्डियाँ प्रति रुपया १५$\frac{2}{3}\frac{9}{2}$ पेंस की दर से बेचने के लिए अनुमति दी, तथा भुगतान इंगलैंड के व्यापारियों को भारत-सचिव द्वारा स्टर्लिंग में किया गया।

इस प्रकार फाउलर समिति की स्वर्णमान को स्वर्ण-मुद्रा-चलन के साथ अपनाने की सिफारिश के स्थान पर रुपया-विपत्र तथा स्टर्लिंग-विपत्रों की ऐसी पद्धति का उपयोग हुआ जिसको हम स्वर्ण-विनिमय-मान कह सकते हैं क्योंकि वास्तव में हमारा रुपया देश में प्रतीक मुद्रा की भाँति था किन्तु विदेशों में वह स्वर्ण-मुद्रा की भाँति था जिसका स्वर्ण-मूल्य १ शि० ४ पेंस अथवा ७·५२२४४ ग्रेन निश्चित किया गया था। इस पद्धति में भारत-सचिव तथा भारत सरकार दो बड़े अधिकोषों का कार्य करते थे और इन दोनों के हाथों हमारी चलन-पद्धति का नियन्त्रण होता था।

स्वर्ण-विनिमय-मान की कार्य-प्रणाली

अथवा रुपया-विपत्र और स्टर्लिंग-विपत्र

भारत का विदेशी व्यापार सदा अनुकूल ही रहता था किन्तु भारत

को प्रति वर्ष इंगलैंड को गृह-व्यय तथा उनकी पूँजी की लागत पर कुछ वार्षिक व्याज चुकाना पड़ता था। अर्थात् एक ओर तो भारत को इंगलैंड से पावना होता था तथा दूसरी ओर देना, जिसके लिए केवल दो ही मार्ग थे। एक तो भारत सरकार इंगलैंड से अनुकूल व्यापारिक शेष के वदले सोना ले और फिर गृह-व्यय तथा व्याज के रूप में इंगलैंड को स्वर्ण भेजे। इस प्रकार स्वर्ण के आयात-निर्यात में अनेक असुविधाएँ होतीं इसलिए दूसरी पद्धति अपनाई गई जिसके अनुसार भारत के अंग्रेज अधमर्ण व्यापारियों से स्टर्लिङ्ग लेकर वदले में भारत-सचिव उन्हें रुपया-विपत्र (Rupee Bills) अथवा परिषद्-विपत्र (Council Bills) दे, जिनका भुगतान भारत सरकार भारतीय उत्तमर्ण व्यापारियों को चुकाये। इस प्रकार भारत-सचिव के पास जो रकम आती थी उसमें से भारतीय गृह-व्यय तथा व्याज की रकम निकाल कर जो शेष रहता था वह भारत-सरकार के नाम, आगामी वर्षों में उपयोग के लिए जमा कर दिया जाता था। अब अंग्रेज व्यापारी ये परिषद्-विपत्र अपने भारतीय उत्तमर्णों के पास भेज देते थे जिनका भुगतान वे भारतीय कोष से अपने-अपने अधिकोषों की मार्फत प्राप्त करते थे। इस प्रकार दोनों के ऋणों का भुगतान परिषद्-विपत्रों द्वारा होता था और शेष रकम जो भारत सरकार के नाम इंगलैंड में जमा रहती थी उसका उपयोग भारत सरकार औद्योगिक माल की खरीद में करती थी।

किन्तु यह तब तक ठीक चलता रहा जब तक व्यापारिक शेष भारत के अनुकूल रहा। जब व्यापारिक शेष भारत के प्रतिकूल होता था तब भारतीय व्यापारी अपने अंग्रेज उत्तमर्णों के भुगतान के लिए भारत सरकार से रुपयों के वदले स्टर्लिङ्ग माँगते थे। भारत सरकार उन्हें स्टर्लिङ्ग-विपत्र (Sterling Bills) अथवा प्रति-परिषद्-विपत्र (Reverse Council Bills) देती थी जिनका भुगतान इंगलैंड में भारत-सचिव अंग्रेज व्यापारियों को करता था। जब ऐसे प्रति-परिषद्-विपत्रों की आवश्यकता भारत के व्यापारियों को होती थी तब वे रुपयों के बदले सरकारी कोषों से अपने अधिकोषों की मार्फत इन्हें खरीदते थे। ये विपत्र वे अपने उत्तमर्णों को इंगलैंड में भेजते थे जिनके बदले भारत-सचिव उन्हें स्टर्लिङ्ग देता था।

इस प्रकार व्यापारिक शेष की अनुकूल एवं प्रतिकूल अवस्था में इंगलैंड और भारत का परस्पर भुगतान, परिषद् तथा प्रति-परिषद्-विपत्रों द्वारा होता था तथा एक-दूसरे देश को स्वर्ण का आयात-निर्यात नहीं करना पड़ता था।

अब यह सवाल उठता है कि भारत सरकार को भारत-सचिव पर प्रति-परिषद्-विपत्रों के आहरण (Drawing of Bills) का क्या अधिकार था ? इसका उत्तर यह है कि रुपये के टंकण से जो लाभ होता था उसको स्वर्णमान-निधि में जमा किया जाता था एवं जिसका उपयोग संकट काल में फाउलर समिति की सिफारिश के अनुसार हो सकता था। इसीलिए उसको इंगलैंड में रखा गया था जिससे संकट काल में इस प्रकार उसका उपयोग हो सके।

यह स्वर्णमान-पद्धति सन् १९१४ तक ठीक प्रकार चलती रही किन्तु बाद में युद्धजन्य परिस्थिति के कारण इसमें भी बाधाएँ आ गईं जिससे यह विनिमय-मान पद्धति भी कार्यरूप में न रह सकी।

स्वर्ण-विनिमय-मान की आलोचना

वैसे देखने से तो यह कार्य-पद्धति बड़ी ही सरल एवं सुविधापूर्ण मालूम होती थी किन्तु वास्तव में देखने से यह भ्रमपूर्ण है क्योंकि भारत-सचिव की नीति हमेशा से यही रही कि भारत में कम से कम स्वर्ण जाय इसलिए वह हमेशा ऐसे ही उपायों की खोज में रहते थे जिससे उनकी कार्य-सिद्धि हो। इसी हेतु से भारत-सचिव का इसी दशा में प्रयत्न होता रहा जिससे हमारे देश की कीमतें ऊँची बनी रहे तथा इंगलैंड से होने वाला आयात बढ़े और इसीलिए फाउलर समिति की सिफारिशों के विरुद्ध उपर्युक्त कार्यवाही की गई।

सबसे प्रथम तो इस पद्धति के विरुद्ध यह आक्षेप है कि भारत-सचिव ने स्वर्ण का निर्यात जो हमारे देश में होता उसे नहीं होने दिया। हमारा व्यापार-शेष सदैव ही हमारे अनुकूल रहता था क्योंकि जितने रुपयों का आयात होता था उससे निर्यात अधिक था इसलिए इस आधिक्य के मूल्य का स्वर्ण हमारे देश में आता। किन्तु जब १८९८ के बाद यह बात भारत-सचिव के ध्यान में आई तब उसने कहा कि भारत सरकार से इंगलैंड को गृह-व्यय तथा ब्याज के रूप में रुपया लेना है जो हम यहीं पर (इंगलैंड में) स्टर्लिंग-विपत्र बेचकर रख लिया करेंगे तथा जो अधिक रकम आयेगी वह भारत सरकार के नाम जमा कर देंगे। इस प्रकार भारत में स्वर्ण का आयात नहीं होने दिया। खैर, जहाँ तक एक-दूसरे के भुगतान का सम्बन्ध था, यह ठीक है परन्तु जो रकम हमारे गृह-व्यय आदि से अधिक होती थी वह तो हमारे यहाँ स्वर्ण में आनी चाहिए थी किन्तु भारत-सचिव ने उसे यहाँ नहीं

आने दिया और कहा कि यदि यह स्वर्ण भारत को जाता है तो वह या तो भूमिगत हो जायगा या उसके गहने बनाए जायँगे जिससे वह भारत सरकार के काम न आ सकेगा तथा जब चाँदी, रेल्वे के लिए सामान आदि इंगलैंड में खरीदा जायगा उसके काम में न आ सकेगा; इसलिए इस अतिरिक्त स्वर्ण को भी इंगलैंड में रखना ही उचित है। किन्तु यह युक्ति-प्रवाद सर्वथा सही नहीं है क्योंकि इस काल में भारत में स्वर्ण की चाह होने लगी थी और यदि चाह नहीं भी थी और यह स्वर्ण यदि भूमिगत भी हो जाता तो भी भारत-सचिव को क्या आवश्यकता थी कि वह भारत सरकार को अनधिकार उपदेश करे ? यह विषय तो केवल भारत सरकार का था।

दूसरे, स्वर्ण-निधि रुपयों के टंकण से होने वाले लाभ से बनाया गया था जो समिति की सिफारिश के अनुसार भारत में ही रहना चाहिए था। क्या अधिकार था भारत सचिव को कि वह उसका स्थानान्तरण इंगलैंड में करे ? क्योंकि यदि यह स्वर्ण भारत में रहता तो भारत सरकार के काम आ सकता था अथवा हमारे उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिए काम आता; किन्तु उसे इंगलैंड में रखने से तो भारत सरकार को सर्वथा भारत-सचिव पर ही निर्भर होना पड़ा। तीसरे, इस निधि को स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ खरीदने के लिए उपयोग में लाया गया तथा इंगलैंड के उद्योगपतियों को ऋण के रूप में कम व्याज पर दिया गया जिससे वहाँ के उद्योगों की तो उन्नति हुई किन्तु हमारे यहाँ उन्नति न हो सकी। दूसरे आक्षेप का उत्तर यह दिया गया था कि यदि यह निधि इंगलैंड में न रहे तो भारत सरकार व्यापारिक शेष की प्रतिकूलावस्था में भारत-सचिव पर प्रति-परिषद-विपत्र नहीं बेच सकती थी और अंग्रेज उत्तमर्णों को भुगतान करने के लिए उसे असुविधा होती। किन्तु क्या ऐसा नहीं हो सकता था कि भारत सरकार को ऐसे समय में कुछ पौंडों का भुगतान करने के लिए भारत-सचित सहायक होता अथवा बैंक ऑफ इंगलैंड से अपनी जिम्मेवारी पर भारत सरकार को पौंड उधार दिलवा सकता ? परन्तु यह सब न हुआ और न किया गया।

स्वर्ण-विनिमय-मान की स्थापना के ६ वर्ष बाद १६०७ में विनिमय-दर गिरने लगी और १ शि० ४ पेंस से कम हो गई तथा भारतीय व्यापारिक शेष भी हमारे प्रतिकूल हुआ जिसके लिए दो कारण प्रमुख थे :—एक तो भारत में अनावृष्टि और दूसरे विश्व की मौद्रिक कमी तथा इसी समय में होने वाला अमेरिका का आर्थिक संकट (Financial Crisis)। इसलिए सब से प्रथम भारतीय व्यापारियों ने भारत सरकार से विदेशी विनिमय की बड़ी

मात्रा में माँग की। परन्तु इस माँग की पूर्ति करने के लिए सरकार के पास पर्याप्त मात्रा में स्वर्ण नहीं था और न वह दे ही सकती थी। इस पूर्ति के लिए व्यापारियों ने प्रति-परिषद-विपत्र भी माँगे किन्तु भारत-सचिव ने उसके लिए भी अनुमति नहीं दी जिससे दो बातें स्पष्ट होती हैं :—एक तो निश्चित नीति का अभाव और दूसरे भारतीय व्यापार एवं व्यापारियों की भलाई की ओर पूर्ण अनास्था क्योंकि स्वर्ण-निधि इंगलैंड में इसीलिए रखा गया था कि यदि विनिमय-दर गिरने लगे तो वहाँ से प्रति-परिषद-विपत्रों का भुगतान भारत-सचिव द्वारा किया जाय। किन्तु ऐसा न होने से प्रतिकूल विनिमय-दर होने के कारण भारतीय आयातकर्त्ताओं को बहुत भारी हानि हुई और सरकारी नीति की बुरी तरह आलोचना होने लगी। इसके फलस्वरूप २६ मार्च १६०८ को इस प्रकार के प्रति-परिषद-विपत्र बेचने की अनुमति दी गई तथा वे भारतीय आयातकर्त्ताओं को बिकने लगे। इस समय स्वर्ण-निधि ४०० लाख पौंड से अधिक हो गया था जिसमें से ३०० लाख पौंड से अधिक भारत-सचिव द्वारा इङ्गलैंड के उद्योगों में लगाया गया था जो रकम प्रति-परिषद-विपत्रों के भुगतान के लिए उनसे नहीं ली जा सकती थी और यही वास्तविक कारण था जिसके लिए स्वर्ण-निधि इङ्गलैंड में रखा गया था। इस प्रकार जो स्वर्ण-निधि फाउलर समिति ने भारतीय हित के लिए बनाया था उसको इङ्गलैंड में रखकर अंग्रेजी व्यापार एवं उद्योगों की उन्नति के काम में लाया गया तथा इससे भारत-सचिव ने ब्याज कमाया जो संकट काल में भारत के काम न आ सका।

१६१३ के बाद

इन आलोचकों में से कुछ तो टंकशाला को खोल देने के पक्ष में थे तथा कुछ परिषद-विपत्रों की असीमित बिक्री के विरुद्ध थे किन्तु विनिमय-दर की स्थिरता के कारण तथा भारतीय व्यापारिक शेष में १६०८ के बाद अनुकूलता आने के कारण आलोचकों की आवाज पर विशेष ध्यान न दिया गया क्योंकि विनिमय-दर प्रति रुपया १ शि० ४ पेंस पर स्थिर होगई थी। किन्तु फिर भी कुछ लोगों ने सामूहिक रूप से लन्दन के भारत कार्यालय की भारत के प्रति शासकीय नीति की कड़ी आलोचना की जो मुख्यतः निम्नलिखित बातों के सम्बन्ध में थी :—

१. स्वर्ण-निधि को भारत में रखने के बदले उसका उपयोग इङ्गलैंड में स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के विनियोग में किया जाना,

२. स्वर्ण-निधि में से रेल्वे-व्यय के लिए स्वर्ण का विनियोग करना,

३. रुपयों की टंकण-सुविधा के बहाने स्वर्ण-निधि का कुछ भाग चाँदी में रखा जाना,

४. पत्र-चलन-निधि का कुछ भाग भारत से इङ्गलैंड में स्थानान्तरित करना, तथा

५. भारत को स्वर्ण-निर्यात न हो इस दृष्टि से परिषद्-विपत्रों का ऐसी दर पर असीमित विक्रय करना, जिसके कारण भारत में रुपया ही केवल चलन में रहे जो अधिक मात्रा में हो तथा जिससे भारतीय कीमतें ऊँची बनी रहें।

चेम्बरलेन समिति

इस नीति के परिणामस्वरूप भारत से १८९८ से १९१२ तक ७०० लाख पौंड से अधिक स्वर्ण इङ्गलैंड में जा चुका था जो कि इङ्गलैंड में कम ब्याज पर अंग्रेजी अधिकोषों को एवं व्यापारियों को ऋण के रूप में दिया जाता था और दूसरी ओर भारत में मुद्रा की कमी रहती थी। इन आलोचनाओं की ओर अधिक काल तक दुर्लक्ष किया जाना भारत सरकार को असम्भव सा प्रतीत होने लगा जिसके कारण १९१३ में सर ऑस्टिन चेम्बरलेन की अध्यक्षता में एक नई चलन-समिति की नियुक्ति की गई जो चेम्बरलेन कमीशन के नाम से प्रसिद्ध है। इस समिति के सामने निम्न-लिखित बातें विचारार्थ रखी गई थीं :—

१. भारत सरकार के सामान्य शेषों (General Balances) के स्थान एवं व्यवस्था सम्बन्धी जाँच ;

२. फ़ाउलर समिति की सिफारिशों के बाद रुपये की विनिमय-दर स्थिर रखने के लिए भारत सरकार एवं भारत-सचिव ने जो उपाय किये उनकी और विशेषतः स्वर्ण-निधि एवं पत्र-चलन-निधि के स्थान और उपयोग की जाँच तथा जो पद्धति १८९८ के बाद काम में लाई गई वह भारत के लिए लाभदायक थी अथवा नहीं इस सम्बन्ध में सिफारिश करना; तथा

३. अन्य बातें।[1]

---

[1] '*To enquire into the location and management of the general balances of the Govt. of India; the sale in London of Council Bills and transfers; the measures taken by the Indian Government and the*

समिति की सिफारिशों की मुख्य बातें सारांश रूप में निम्नलिखित हैं :—

१. उन्होंने कहा कि अब समय आ गया है जब यह निश्चित हो जाना चाहिए कि भारतीय चलन-पद्धति का लक्ष्य क्या है। १८९८ की समिति की सिफारिश के अनुसार स्वर्णमान की यशस्विता के लिए स्वर्ण-चलन आवश्यक है परन्तु पिछले १५ वर्ष के इतिहास से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वर्ण-चलन के बिना स्वर्णमान की स्थापना हो गई है।

२. इसलिए देश में स्वर्ण-चलन को प्रोत्साहन देना भारत के लिए हितकर न होगा।

३. देश के चलन की पुष्टि के लिए पर्याप्त मात्रा में स्वर्ण और स्टर्लिंग रहना चाहिए जिससे विदेशी विनिमय में सुविधा होगी।

४. इस समय स्वर्णमान-निधि के लिए निश्चित मर्यादा नहीं लगाई जा सकती, किन्तु रुपयों के टंकण से जो लाभ हो वह सब इस निधि में जमा किया जाय। किन्तु इस निधि में अभी स्वर्ण की अधिक आवश्यकता है जो १५० लाख पौंड तक हो ; इसके बाद आधा निधि स्वर्ण में रखा जाय।

५. यह स्वर्णमान-निधि इङ्गलैंड में ही रखा जाय तथा सरकार यह जिम्मेदारी ले कि स्टर्लिंग की माँग बढ़ने पर वह भारत-सचिव पर १५$\frac{२९}{३२}$ पेंस प्रति रुपये की दर से प्रति-परिषद-विपत्र बेचेगी।

६. भारतीय पत्र-चलन अधिक लोचदार (Elastic) बनाया जाय।

७. स्वर्णमान की रौप्य-शाखा का अन्त किया जाय।

८. भारत कार्यालय (India Office) की राजस्व-समिति (Finance Committee) में दो सभासद भारतीय हों।

उन्होंने यह भी कहा कि रुपये के विनिमूल्य में स्थिरता रहना भारत के लिए अति आवश्यक है और इसलिए जो मार्ग अपनाये गये वे १८९८ की

Secretary of State for India-in-Council to maintain the exchange value of the rupee in persuance or supplementary to the recommendations of the Indian Currency Committee of 1898, more particularly with regard to the location, disposition, and employment of the Gold Standard and Paper Currency Reserves; and whether the existing practice in these matters is conducive to the interests of India ; also to report as to stability of the financial organisations and procedure of the India Office ; and to make recommendations."

'Indian Currency and Exchange' by Bhatnagar. P. 51.

समिति की सिफारिशों के अतिरिक्त होते हुए भी आवश्यक थे तथा जिनके कारण १६०७-०८ के संकट में अपनी सफलता का परिचय दिया।

इस प्रकार उपर्युक्त सिफारिशों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस समिति ने स्वर्ण-विनिमय-मान की गत १५ वर्षों की कार्य-प्रणाली पर स्वीकृति की मुहर लगादी। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट २४ फरवरी १६१४ को पेश की जो कि सरकार के विचाराधीन थी। इसी समय १६१४ में प्रथम विश्व-युद्ध प्रारम्भ हुआ तथा भारत और इङ्गलैंड के सामने नई-नई एवं जटिल समस्याएँ उपस्थित हुईं जिसके कारण समिति की सिफारिशें ताक में रख दी गईं।

प्रश्न

१. १८६३ से १६१४ तक का भारतीय चलन-पद्धति का इतिहास संक्षेप में लिखिये।

२. फाउलर समिति की सिफारिशें क्या थीं? उन पर किस प्रकार कार्य किया गया?

३. १८६८ से १६१४ तक भारतीय चलन-पद्धति किस प्रकार थी? उसके विरुद्ध कौन से आक्षेप थे? विस्तारपूर्वक लिखिये।

४. परिषद-विपत्र तथा प्रति-परिषद-विपत्रों से क्या तात्पर्य है? उनकी कार्य-प्रणाली का विवेचन कीजिये तथा दोष बताइये।

५. हर्शल समिति की स्थापना क्यों की गई तथा इस समिति ने कौनसी सिफारिशें कीं और उनका क्या परिणाम हुआ?

६. क्यों और किस प्रकार भारत में स्वर्ण-विनिमय-मान की स्थापना हुई? उसके क्या गुण-दोष थे?

७. १८७० में भारत में चाँदी का स्वर्ण-मूल्य गिरने से भारतीय व्यापार, उद्योग एवं सरकार के अर्थ-विभाग पर क्या परिणाम हुआ?

८. हर्शल समिति के सामने कौनसी समस्याएँ थीं? उनको किस प्रकार हल किया गया?

९. चेम्बरलेन समिति की नियुक्ति क्यों की गई? उसकी सिफारिशें बताकर, वे कहाँ तक कार्यान्वित हुईं, लिखिये।

अध्याय १२

भारतीय चलन का इतिहास (२)

(१६१४–१६३६)

युद्ध-काल

युद्ध के आसार तो पहिले से ही स्पष्ट होने लगे थे जिससे उस समय परिस्थिति को काबू में रखने के लिए भारत सरकार एवं भारत-सचिव ने उपाय सोच रखे थे। ऐसी अवस्था में वे विनिमय-दर को स्थिर रखने के लिए परिषद एवं प्रति-परिषद-विपत्र बेचने के लिए तत्पर थे। ४ अगस्त १६१४ को इंगलैंड ने जर्मनी के खिलाफ युद्ध का ऐलान किया तो एकदम विनिमय-दर में गिरावट दिखाई दी क्योंकि इंगलैंड उस समय मौद्रिक जगत् में एक उत्तमर्ण अथवा साहूकार देश था और वहाँ के लोगों ने अपने ऋणों का भुगतान दूसरे देशों से माँगना शुरू किया।

प्रारम्भ में हमारे व्यापार को धक्का लगा और व्यापारिक शिथिलता आ गई, विनिमय-दर में भी कमजोरी आई तथा भारतीय जनता ने अपनी-अपनी अमानतें (Deposits) अधिकोषों से निकालना शुरू किया, पत्र-मुद्रा को भी लोग परिवर्तित कराने लगे तथा स्वर्ण को चाहने लगे। इस कमजोरी को दूर करने के लिए भारतीय डाकखानों ने अमानतें फौरन ही वापिस कीं, पत्र-मुद्राओं का परिवर्तन भी चालू रखा तथा विनिमय-दर की कमजोरी दूर करने के लिए प्रति-परिषद-विपत्र भी बेचना प्रारम्भ किया। पहिले दो महीने में ही करीब ६ करोड़ रुपयों की अमानतें निकाली गईं और ३१ जुलाई १६१४ से ३१ मार्च १६१५ तक लगभग १० करोड़ रुपये की पत्र-मुद्राओं का परिवर्तन हुआ तथा इस मात्रा से पत्र-मुद्रा-चलन कम हो गया। इसी के साथ ६ अगस्त १६१४ से २८ जनवरी १६१५ तक ८७,०७,००० पौंड के प्रति-परिषद-विपत्रों का भारत में विक्रय हुआ। पत्र-मुद्रा के बदले स्वर्ण की माँग बढ़ती ही गई और केवल १ अगस्त १६१४ से ४ अगस्त १६१४

तक १८ लाख पौंड मूल्य के स्वर्ण की हानि हुई जिसके कारण ५ अगस्त १९१४ से स्वर्ण का नोटों के बदले देना भारत सरकार ने बन्द कर दिया।[1]

इसके बाद परिस्थिति सुधरने लगी और जनता को हमारी चलन-पद्धति में विश्वास हो आया जिसके कारण इस संकट का सामना यशस्वी रीति से हो सका।

परन्तु इसके बाद जो परिस्थिति उत्पन्न हुई वह अच्छे-अच्छे राजनीतिज्ञों के लिए भी कल्पनातीत थी। विनिमय-दर कुछ महीनों तक कमजोर रहने के बाद ठीक होने लगी और युद्ध के ६ महीने बाद ही काफी मजबूत हो गई, जिसके लिए अनेक कारण थे :—

१. इंगलैंड तथा दूसरे यूरोपीय देश जो माल भारत में युद्धपूर्व भेजते थे वह अब नहीं भेज सकते थे जिसके फलस्वरूप हमारा आयात कम हो गया था तथा दूसरी ओर मित्र राष्ट्रों को कच्चा माल तथा धान्यादि की आवश्यकता की पूर्ति के लिए भारत से माल मँगाना पड़ता था जिससे हमारे निर्यात बढ़ गये और व्यापारिक शेष हमारे अनुकूल हुआ जिसके कारण हमारे रुपये की माँग बढ़ी।

२. दूसरे, इंगलैंड की ओर से भुगतान करने की जिम्मेवारी भी भारत सरकार पर आई और इस प्रकार का भुगतान १९१४ से १९१९ तक कुल २४०० लाख पौंड का किया गया। इसके अतिरिक्त अन्य युद्धजन्य सामग्री का भी बहुत परिमाण में क्रय करने की जिम्मेवारी भारत सरकार पर थी; जिसकी वजह से भारत सरकार को इंगलैंड से अधिक पावना हो गया था अर्थात् हमारा खाता-शेष हमारे अनुकूल था।

३. भारत में पत्र-चलन अधिक हो जाने से, तथा कच्चा माल आदि की माँग बढ़ जाने से हमारी कीमतें ऊँची हो गईं जिसकी वजह से हमारे निर्यात वस्तुओं में अधिक न बढ़ते हुए भी मूल्यों में निर्यात बढ़ गया। इसका प्रभाव भी खाता-शेष (Balance of Payment) हमारे अनुकूल होने में रहा। इन दोनों कारणों से भी हमारी मुद्रा की माँग बढ़ती गई।

४. इन सब का भुगतान करने के लिए भारत-सचिव से अधिकाधिक परिषद्-विपत्र माँगे जाने लगे और उनका भुगतान भारत में करने के लिए भी अधिकाधिक रुपयों की आवश्यकता थी, इसलिए भारत-सचिव को भारत

---

[1] *'Indian Currency, Banking and Exchange' By Chhabalani. P. 91.*

सरकार की ओर से रुपयों के टंकण के लिए बड़ी मात्रा में चाँदी खरीदने की आवश्यकता हुई जिसकी वजह से चाँदी का मूल्य बढ़ने लगा तथा भारत सरकार का रुपयों के टंकण से होने वाला लाभ भी कम होता गया। इसके अतिरिक्त चाँदी का मूल्य बढ़ाने के लिए निम्नलिखित परिस्थिति भी कारण बनी :—

स्वर्ण एवं चाँदी के आयात से साधारण परिस्थिति में भारतीय अनुकूल व्यापारिक शेष का सन्तुलन हो जाता था किन्तु युद्धजन्य परिस्थिति के कारण इन धातुओं का आयात न हो सका जिसके लिए अनेक कारण थे :—

१. स्वर्ण को प्राप्त करने में अनेक कठिनाइयाँ प्रतीत होने लगीं क्योंकि अभी तक इंगलैंड में स्वर्ण की विपणि खुली होने से स्वर्ण प्राप्त करने के लिए भारत को कोई कठिनाई न होती थी किन्तु स्वर्ण के निर्यात पर प्रतिबन्ध लग जाने से अब यहाँ से स्वर्ण प्राप्त करना सम्भव न था। दूसरे, अन्य राष्ट्रों ने भी अपने स्वर्ण-संचय को युद्धोपयोग के लिए रखने के लिए स्वर्ण-निर्यात पर रोक लगा दी। १९१७–१८ में कुछ स्वर्ण भारत में अवश्य आया लेकिन उस समय विनिमय-विपणि में रुपयों की कमी की वजह से अमेरिका तथा जापान को स्वर्ण भेजकर ही अपना काम करना पड़ा। स्वर्ण की अप्राप्ति के कारण चाँदी के लिए माँग बढ़ गई जो १९१७ तक अनियन्त्रित रही।

२. विभिन्न देशों की केन्द्रीय बैंकों को विधानानुसार अपने निधि का कुछ भाग चाँदी में रखना पड़ता था परन्तु परिस्थिति की सामान्य दशा में यह न रखा गया। किन्तु युद्ध-काल में अपनी परिस्थिति की मजबूती के लिए प्रत्येक अधिकोष अपने निधि में चाँदी दिखाने की कोशिश करने लगा और चाँदी खरीदने लगा, जिसकी वजह से चाँदी के लिए माँग बढ़ गई।

३. चीन, जो कि १९१४ से १९१७ तक चाँदी को बेचता था, उसने भी चाँदी खरीदना शुरू किया क्योंकि वहाँ के दो बड़े-बड़े प्रान्तों ने चाँदी को मौद्रिक धातु के रूप में ग्रहण किया, जिससे चाँदी की माँग और भी बढ़ गई।

४. इसी के साथ जहाँ एक ओर चाँदी के लिए माँग बढ़ रही थी, दूसरी ओर चाँदी का उत्पादन कम हो रहा था क्योंकि क़ैनाडा की कोबाल्ट की खानों से चाँदी कम निकलती थी। दूसरे, मैक्सिको में, जो चाँदी का बड़ा उत्पादक है, गृह-युद्ध के कारण चाँदी की खानों का उत्पादन भी बन्द हो गया जिसकी वजह से चाँदी की विश्व-पूर्ति प्रभावित हुई।

इन सब कारणों से चाँदी का मूल्य बढ़ता ही गया तथा भारत सरकार को रुपयों के टंकण से अब कोई लाभ भी न रहा तथा विनिमय-दर १ शि० ४ पेंस पर स्थिर रखना भी असम्भव हो गया और विनिमय-दर को अब अपना मार्ग लेने के लिए मुक्त छोड़ दिया गया और विनिमय-दर भी चाँदी के मूल्य के साथ तेजी से बढ़ने लगी। उसकी बढ़ती निम्न प्रकार हुई :—

वर्ष	चाँदी का मूल्य	विनिमय-दर
१९१५	२७ १/४ पेंस प्रति औंस	१६ पेंस प्रति रुपया
१९१६ अप्रेल	३५ १/८ ,, ,, ,,	,, ,, ,,
१९१६ दिसम्बर	३७ ,, ,, ,,	,, ,, ,,
१९१७ अगस्त	४३ ,, ,, ,,	१७ ,, ,, ,,
१९१७ सितम्बर	५५ ,, ,, ,,	१७ ,, ,, ,,
१९१८ मई	५८ ,, ,, ,,	२० ,, ,, ,,
१९१९ १७ दिसम्बर	७८ ,, ,, ,,	२८ ,, ,, ,,

इस परिस्थिति को काबू में करने की दृष्टि से भारत सरकार ने वैयक्तिक आयात (Personal and Private Import) पर प्रतिबन्ध लगा दिये जिससे चाँदी की माँग का प्रभाव कुछ कम हो और भारत सरकार ने अमेरिका से चाँदी खरीदने का करार किया। इस करार से भारत में पत्र-मुद्रा की रुपयों में परिवर्तनशीलता रखने में बड़ी सहायता मिली अन्यथा यहाँ पर भी संकटमय परिस्थिति हो जाती तथा हमारा मौद्रिक ढाँचा नेस्तनाबूत हो जाता।

दूसरे, चाँदी तथा सोने की मुद्राओं को निर्यात से रोकने के लिए अथवा अन्य उपयोग से रोकने के लिए २९ जून १९१७ से चाँदी तथा सोने के सिक्के गलाना अथवा मुद्रा के अतिरिक्त उनका उपयोग करना अवैधानिक करार किया गया।

तीसरे, चाँदी की मितव्ययिता की दृष्टि से २॥) रु० तथा १ रु० की पत्र-मुद्राएँ भी चलाई गईं तथा निकेल की दुअन्नियाँ, आदि १ अप्रेल १९१८ से चलाई गईं तथा उनको सितम्बर १९१९ से विधान द्वारा स्वीकृत किया गया जिसके अनुसार निकेल की अठन्नी-चवन्नियाँ भी चलाई गईं लेकिन ये केवल १ रुपये तक ही विधिग्राह्य थीं।

चौथे, रुपयों की भारत में कमी होने की वजह से भारत-सचिव ने

परिषद-विपत्रों की बिक्री भी स्थगित करदी तथा वे केवल कुछ ऐसे व्यापारियों को बेचे जाते थे जो केवल युद्ध के लिए आवश्यक सामग्री का आयात करते थे।

पाँचवें, १९१७ में जब चाँदी का मूल्य ४३ पेंस प्रति औंस हो गया तब भारत सरकार को रुपयों के ढालने से कोई लाभ न रहा जिसके लिए १९१७ में विनिमय-दर १७ पेंस प्रति रुपया करदी गई।

छठे, चाँदी की कमी को दूर करने के लिए स्वर्ण को प्राप्त कर उसका उपयोग भी भारत सरकार को करना पड़ा। स्वर्ण की प्राप्ति के लिए १९१७ में एक आदेश (Ordinance) निकाला गया जिसके अनुसार सरकार स्वर्ण का आयात रुपये के स्टर्लिंग-मूल्य की दर से ख़रीद लेती थी, जो पत्र-चलन-निधि में पत्र-मुद्रा के चलन के अधिक प्रसार के हेतु सुरक्षितता लाने के लिए रखा जाता था।

सातवें, १९१८ में मौद्रिक कमी को दूर करने के लिए इस सोने से १५ रु० मूल्य की स्वर्ण मोहरें भी ढाली जाने लगीं जिसके लिए शाही टंकशाला की एक शाखा बम्बई में स्थापित की गई जो अप्रेल १९१९ में बन्द करदी गई। इसमें मोहरें और सॉवरेन मिला कर कुल २४,०९,००० स्वर्ण-मुद्राएँ ढाली गईं थीं।

आठवें, परिषद-विपत्रों के भुगतान के लिए भारत में अधिकाधिक पत्र-मुद्रा का प्रसार होने लगा तथा अरक्षित पत्र-चलन की मर्यादा १४ करोड़ से क्रमशः बढ़ते-बढ़ते १२० करोड़ हो गई थी। ये नोट परिवर्तनशील थे और इनका रुपयों में परिवर्तन भी होता रहा किन्तु शासकीय कठिनाइयों की वजह से १९१९ में पत्र-मुद्रा का परिवर्तन भी मर्यादित कर दिया गया जिसकी वजह से पत्र-मुद्रा अपहार (Discount) से भी कई जगह बेची गई।

इस प्रकार भारत में युद्ध के स्वरूप जो संकट आये उनका सामना किया गया और भारत की आर्थिक संकट से रक्षा हुई।

हम ऊपर यह बता चुके हैं कि १९१७ से विनिमय-दर क्रमशः बढ़ती गई। इससे हमारे व्यापार पर क्या प्रभाव हुआ, यह प्रश्न उपस्थित होता है। सामान्य परिस्थिति में विनिमय-दर की वृद्धि से आयात बढ़ते है तथा निर्यात कम हो जाते हैं किन्तु हमारे यहाँ के कृषिजन्य पदार्थों की माँग बढ़ती हुई कीमतों के होते हुए भी युद्ध के कारण अधिक ही रही और निर्यात-व्यापार पर कोई प्रभाव नहीं हुआ तथा हमारा व्यापारिक शेष युद्ध के अन्तिम तीन

वर्षों में अनुकूल ही रहा जिसके भुगतान के लिए भारत-सचिव परिषद्-विपत्र बेचते थे और उनका भुगतान भारत में रुपयों में तथा पत्र-मुद्राओं में होता था। इसलिए हमारे यहाँ की टंकशालाओं में दिन-रात रुपये ढलते थे और पत्र-मुद्रा का प्रसार भी, जैसा ऊपर बताया गया है, बहुत बढ़ चुका था और उसकी परिवर्तनशीलता भी मर्यादित करदी गई थी क्योंकि जो रुपये हमारे किसानों के हाथ पड़ते थे उनके या तो वे गहने बनवाते थे या उन्हें भूमिगत करते थे। इस परिस्थिति की वजह से भारत सरकार को अनेक कठिनाइयाँ प्रतीत होने लगीं और हमारी चलन-पद्धति पूर्णतया विचलित होने को ही थी कि भारत के सौभाग्य से १९१८ में युद्ध-समाप्ति की घोषणा करदी गई जिसकी वजह से अमेरिका, आस्ट्रेलिया, इंगलैंड आदि युद्धग्रस्त देशों ने स्वर्ण-निर्यात से प्रतिबन्ध उठा लिये तथा भारत में स्वर्ण आने लगा और हमारा आर्थिक ढाँचा टूटने से बच गया।

युद्धोपरान्त : बेबिंगटन स्मिथ समिति

इसके बाद ही ३० मार्च १९१९ को बेबिंगटन स्मिथ समिति की नियुक्ति की गई। इस समिति का कार्य भारतीय चलन तथा विनिमय-पद्धति पर युद्ध का प्रभाव देखना, भारतीय पत्र-चलन की परिस्थिति देखना, आगामी परिस्थिति में भारतीय व्यापार की आवश्यकतानुसार चलन के हेर-फेर की सिफारिश करना तथा स्वर्ण-विनिमय-मान की स्थिरता के लिए सुझाव रखना था। इस कार्य की मर्यादा में ही उन्होंने स्वर्ण-विनिमय-मान को स्थायी रखने के लिए फरवरी १९२० में अपनी रिपोर्ट भेजी तथा निम्नलिखित सिफारिशें कीं :—

१. समिति ने विशेष सिफारिश की कि रुपये की दर २४ पेंस स्वर्ण हो, न कि २४ पेंस स्टर्लिंग, क्योंकि इस काल में स्टर्लिंग जो इंगलैंड की पत्र-मुद्रा थी उसका स्वर्ण-मूल्य गिर रहा था। इस दर से सॉवरेन की कीमत पहिले की अपेक्षा ५ रुपये घट कर १० रुपये होती। ऐसा करने का एकमात्र कारण यही बताया गया कि स्टर्लिंग का स्वर्ण-मूल्य कितना गिरेगा यह निश्चित नहीं है और भारतीय मुद्रा का मूल्य स्थायी करने के लिए यह आवश्यक है कि उसका सम्बन्ध किसी ऐसी वस्तु से जोड़ा जाय जिसका मूल्य स्थायी हो और ऐसी वस्तु केवल स्वर्ण ही है। इस प्रकार विनिमय-दर की स्थिरता के लिए यह सम्बन्ध जोड़ा गया। इस प्रकार रुपये का स्वर्ण-मूल्य १०·३००१६ ग्रेन होता है।

२. भारतीय चलन की कार्य-पद्धति स्वयंपूर्ण (Automatic) बनाई जाय।

३. सरकार पर रुपयों का परिवर्तन सॉवरेन में करने की जिम्मेवारी न रहे।

४. स्वर्ण के आयात-निर्यात से प्रतिबन्ध हटा लिये जायँ।

५. चाँदी के आयात से प्रतिबन्ध हटा लिया जाय तथा आयात-कर भी, किन्तु चाँदी के निर्यात पर कुछ समय के लिए प्रतिबन्ध रहे।

६. विनिमय की कमजोरी की दशा में व्यापारिक माँग की पूर्ति के लिए परिषद्-विपत्र बेचे जायँ।

७. स्वर्ण-मान-निधि की रकम के लिए मर्यादा न लगाई जाय और इस निधि का पर्याप्त भाग विनियोग किया जाय।

८. पत्र-चलन पद्धति अधिक लोचदार बनाई जाय तथा किसी प्रकार उसकी परिवर्तनशीलता रखी जाय।

९. मौसमी माँग की पूर्ति के लिए आयात-विपत्रों (Export Bills) के आधार पर ५ करोड़ रुपये की अधिक पत्र-मुद्रा चलाई जाय।

१०. भारत सरकार भारत-सचिव की पूर्व अनुमति के बिना साप्ताहिक प्रति-परिषद्-विपत्रों की रकम घोषित करे।

११. सरकार जनता को वही मुद्रा देने का यत्न करे जिसकी माँग है; फिर चाहे वह रुपया हो, पत्र-मुद्रा हो, अथवा स्वर्ण हो। किन्तु जहाँ तक सम्भव हो स्वर्ण को सरकारी निधि में ही रखा जाय जिससे वह समय पड़ने पर विदेशी भुगतान के काम आ सके।

१२. शाही टंकशाला की बम्बई शाखा का पुनः संस्थापन हो जिसमें सॉवरेन तथा अर्धसॉवरेन ढाले जायँ और जनता को भी स्वर्ण को इन मुद्राओं में परिवर्तन कराने के लिए सुविधाएँ दी जायँ।

१३. नई दर की स्थापना के बाद सॉवरेन का मूल्य १५ रु० से १० रु० हो जायगा इसलिए सरकार यह घोषणा करे कि अमुक तिथि तक सॉवरेन का पुराने दर (प्रति सॉवरेन १५ रु०) पर परिवर्तन हो सकेगा। इसी प्रकार का अवसर उनको भी दिया जाय जिनके पास स्वर्ण मोहरें हैं। इसके बाद उनका टंकण न हो।

१९. अरक्षित पत्र-चलन १२० करोड़ रुपये ही रहे किन्तु अरक्षित भाग (Invested Portion) में केवल २० करोड़ रुपये की भारत सरकार की प्रतिभूतियाँ (Securities) रहें तथा १० करोड़ उन देशों में विनियोग किया जाय जो ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत हों और शेष अल्पकालीन प्रतिभूतियाँ हों तथा इनकी अवधि एक वर्ष से अधिक न हो।

इन सिफारिशों को स्वीकार कर लिया गया और २१ जून १९२० को सॉवरेन और अर्धसॉवरेन की विधिग्राह्यता छीन ली गई। १९२० में भारतीय टंकण-विधान का संशोधन हुआ तथा स्वर्ण के आयात-निर्यात और चाँदी के आयात सम्बन्धी प्रतिबन्धों को रद्द किया गया। पत्र-मुद्रा की रुपयों में परिवर्तनशीलता रखने के लिए भी सुविधाएँ दी गईं। समिति की सिफारिश के अनुसार अरक्षित पत्र-चलन की मर्यादा भी १२० करोड़ रुपये करदी गई तथा चलन के नियन्त्रक (Controller of Currency) को अच्छे निर्यात-विपत्रों के बदले आवश्यकता के समय ५ करोड़ रुपये की पत्र-मुद्रा के अतिरिक्त-चलन का अधिकार भी दिया गया।

सरकारी नीति की आलोचना

हम यह बता चुके हैं कि रुपये की विनिमय-दर स्टर्लिंग से न बाँधते हुए २ शि० स्वर्ण के बराबर करने की सिफारिश की गई थी और जब यह दर स्वीकार करली गई तो उसका परिणाम यह हुआ कि रुपये की दर जो पहिले २ शि० ४ पेंस थी उससे बढ़कर २ शि० १०$\frac{3}{4}$ पेंस हो गई।

दादाभाई दलाल ने, जो इस समिति के एकमेव भारतीय सदस्य थे, दर की वृद्धि के विरुद्ध अपना मत प्रकट किया और कहा कि इस प्रकार की अनिश्चित परिस्थिति में विनिमय-दर निश्चित करना एक भारी भूल होगी और यही श्रेयस्कर है कि अभी विनिमय-दर को माँग एवं पूर्ति पर ही निर्भर रहने दिया जाय तथा उन्होंने यह भी सिद्ध कर दिया कि विनिमय-दर में, जो १६ पेंस प्रति रुपया निश्चित हो चुकी थी, किसी प्रकार परिवर्तन नहीं होना चाहिए क्योंकि परिस्थिति के सुधरते ही चाँदी का मूल्य और उसके साथ ही विनिमय-दर भी गिरने लगेगी। किन्तु उनके विरोधी मत पर कोई ध्यान न दिया गया और विनिमय-दर २ शि० स्वर्ण के बराबर निश्चित करदी गई जो उस समय २ शि० १० पेंस के बराबर थी।

विनिमय-दर को ऊँचा करने का परिणाम होता है निर्यात की कमी होना तथा आयात की वृद्धि होना। जब तक युद्ध-काल था और हमारे यहाँ

के माल की युद्धग्रस्त देशों को आवश्यकता थी, तब तक हमारे विदेशी व्यापार पर उसका प्रभाव न हुआ। किन्तु अब लड़ाई खतम हो चुकी थी जिसकी वजह से विदेशों में हमारे माल की माँग कम हो गई थी एवं निर्यात गिरने लगे थे। दूसरी ओर युद्ध-काल में इङ्गलैंड आदि देश युद्ध के लिए आवश्यक सामग्री तैयार करने में लगे हुए थे किन्तु अब उन्होंने भी अन्य माल तैयार करना प्रारम्भ कर दिया था तथा अपने विदेशी बाजारों को, जो कि युद्ध-काल में दूसरे देशों ने हस्तगत कर लिये थे, पुनः प्राप्त करने की कोशिश मे थे।

दूसरी ओर भारतीय लोग विदेशी माल के लिए तड़प रहे थे क्योंकि उन्हें युद्ध-काल के ४ वर्षों मे वह नही मिल रहा था। दूसरे, बहुत से उपभोक्ता यहाँ पर वस्तुएँ महँगी होने के कारण अपनी आवश्यकताओं को, जहाँ तक सम्भव हो, स्थगित कर रहे थे क्योंकि उनका विचार था कि शान्ति होते ही मूल्य-स्तर गिर जायगा। तीसरे, भारतीयों को विनिमय-दर की अनिश्चितता के कारण रुपये का विश्वास न रहा था जिसकी वजह से वे जहाँ तक हो सके स्टर्लिंग खरीदना चाहते थे और सम्भवतः अगर विनिमय-दर कम भी हो जाती तो वे स्टर्लिंग बेचकर लाभ भी कमा सकते थे। ये तीनों कारण ऐसे थे जिनकी वजह से विदेशी मुद्रा की माँग बढ़ गई तथा सरकार को उसकी पूर्ति करना असम्भव हो गया।

तीसरे, इसके अतिरिक्त जो अंग्रेजी कारखाने भारत में थे उन्होंने जो लाभ युद्ध-काल मे कमाया उसे इंगलैंड में भेजना शुरू किया क्योंकि ऊँची दर पर उनको इंगलैंड में अधिक स्टर्लिंग मिल रहे थे।

चौथे, विनिमय-दर ऊँची होने के कारण भारतीय व्यापारियों को अंग्रेजी माल सस्ता पड़ रहा था इसलिए आगे भी यह दर बनी रहेगी इस आशा पर उन्होंने इंगलैंड मे बड़ी मात्रा में सामान खरीदने के लिए आदेश (Order) दिये।

इस सब का परिणाम यह हुआ कि स्टर्लिंग की माँग बढ़ती ही गई और जब यह माँग विनिमय-अधिकोष (Exchange Banks) पूरी न कर सके तब उन्होंने भारत सरकार से प्रति-परिषद-विपत्र माँगना शुरू किया तथा सरकार ने प्रति-परिषद-विपत्र बेचना शुरू किया। यहाँ पर यह बात ध्यान में रखना जरूरी है कि जब विनिमय-दर कमजोर हो गई थी तभी प्रति-परिषद-विपत्र बेचने के लिए सिफारिश की गई थी। दूसरे, जनता की राय भी प्रति-परिषद-विपत्र इस समय बेचने के विरुद्ध थी क्योंकि जनता का मत यह था

कि भारतीय धन-संचिति जो इंगलैंड में रखी गई है उसे वैसा ही रखा जाय। परन्तु सरकार ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया, परिणामस्वरूप विनिमय-दर गिरने लगी और विनिमय-दर २४ पेंस स्वर्ण रखना असम्भव हो गया। तब सरकार ने २ शि० स्टर्लिंग पर विनिमय-दर स्थिर करने की कोशिश २० जून १९२० से की। इसमें भी जब सरकार असफल रही तो २७ सितम्बर १९२० से प्रति-परिषद-विपत्रों की बिक्री बन्द कर दी गयी क्योंकि स्टर्लिंग की माँग एक ओर तो अपरिमित थी और दूसरी ओर इसकी पूर्ति करने की सरकार की शक्ति परिमित थी जिसकी वजह से विनिमय-दर, जो १ जनवरी १९२० को २७ ७/८ पेंस स्टर्लिंग थी, अगस्त १९२० में केवल २२ १/२ पेंस स्टर्लिंग रह गई तथा आगे भी गिरती गई। सरकार ने इन दो वर्षों में (१९१९ से १९२१ तक) कुल ५,५५,३२,००० स्टर्लिंग के प्रति-परिषद-विपत्र बेचे। इतने स्टर्लिंग के बदले सरकार को कुल ४७१४ लाख रुपये मिले किन्तु अगर यही दर १६ पेंस स्टर्लिंग होती तो उसे कुल ३१,४२,६६६ पौंड इतने रुपयों में बेचने पड़ते, जिससे इस नई दर से भारत सरकार की अनिश्चित एवं अदूर-दर्शी नीति के कारण २४० लाख पौंड की हानि हुई। कहा जाता है कि यह हानि भारत-सचिव की प्रेरणा एवं दबाव के कारण ही हुई। २८ सितम्बर १९२० के बाद सरकार ने विनिमय-दर स्थिर रखने की कोशिशें भी छोड़ दीं और रुपये को व्यापारिक परिस्थिति के अनुसार विनिमय-दर प्राप्त करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया गया। यह दर १ अगस्त १९२१ को १६ पेंस स्टर्लिंग पर आ गई थी तथा इसका स्वर्ण-मूल्य ११ २/३ पेंस था लेकिन अभी तक वैधानिक दर वही २४ पेंस स्वर्ण बनी रही। इन सब अनिश्चित कार्यवाहियों की वजह से सरकारी नीति से जनता का विश्वास उठ गया जिससे व्यापारिक शिथिलता आई तथा आयातकर्त्ताओं को विनिमय-दर गिरने से हानि उठानी पड़ी एवं निर्यातकर्त्ताओं के पास जो माल था उसके लिए कोई खरीदार भी न रहा।

जब दर १ शि० ४ पेंस स्टर्लिङ्ग आ गई तब सरकार ने इससे नीची दर न होने देने के लिए कोशिश करना प्रारम्भ किया जिसके लिए कर-वृद्धि, छटनी, मुद्रा-संकोच आदि उपाय काम में लाये गये जिसकी वजह से सितम्बर १९२४ में विनिमय-दर १ शि० ४ पेंस स्वर्ण अथवा १ शि० ६ पेंस स्टर्लिङ्ग तक पहुँच गई और श्री दलाल ने जैसा अपना मत दिया था वही होकर रहा। इसके बाद सरकार का यही रुख रहा कि विनिमय-दर १ शि० ६ पेंस स्टर्लिङ्ग से ऊँची न जाने पाए क्योंकि यह दर करीब-करीब स्थिर रही।

हिल्टन यंग कमीशन

इसके बाद १ जनवरी १६२५ को सरकार ने एक नई समिति की नियुक्ति सम्बन्धी अपना विचार प्रकट किया और २५ अगस्त १६२५ को हिल्टन यंग की अध्यक्षता में नई समिति की नियुक्ति हुई। इस समिति के चार सदस्य भारतीय थे तथा इसके अतिरिक्त इस समिति के सभासदों ने भारत में अनुसन्धान करके गवाहियों की जाँच के बाद अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की, यह इसकी विशेषताएँ थीं। समिति की रिपोर्ट १ जुलाई १६२६ को दी गई। यहाँ एक बात ध्यान में रखना जरूरी है कि जून १६२५ में विनिमय-दर १ शि० ६ पेंस स्वर्ण हो गई जो ८·४७५१ ग्रेन स्वर्ण के बराबर थी और लगभग १ वर्ष स्थिर रह चुकी थी। इस काल में इंगलैंड ने भी स्वर्णमान अपना लिया था और अन्य देशों के चलन में भी स्थिरता आ गई थी। समिति के विचारार्थ जो बातें थीं उनमें से मुख्य बातें निम्नलिखित थीं :—

१. स्वर्ण-विनिमय-मान की कार्य-पद्धति का परीक्षण तथा स्थिर मान अपनाने सम्बन्धी योजना;

२. चलन एवं अधिकोषण पद्धति का समन्वय (Coordination) करने की योजना; तथा

३. उसको कार्यान्वित करने के लिए सुझाव।

उपर्युक्त सन्दर्भ के आधार पर समिति ने अनेक गवाहियों का परीक्षण एवं भारतीय चलन एवं विनिमय नीति का अध्ययन करने के उपरान्त भारतीय चलन एवं विनिमय पद्धति के पुनर्सङ्गठन तथा चलन एवं अधिकोषण का समन्वय मजबूत आधार पर करने के हेतु अपनी सिफारिशें प्रस्तुत कीं, जो कुल ३१ थीं। उनमें से मुख्य सिफारिशें इन तीन विभागों के अन्तर्गत विभाजित की जा सकती हैं :—

१. भारत के लिए चलन-पद्धति अपनाने सम्बन्धी सिफारिशें;

२. रुपया और स्वर्ण के बीच विनिमय के अनुपात सम्बन्धी सिफारिशें; तथा

३. चलन-अधिकारी सम्बन्धी सुझाव अथवा चलन एवं अधिकोषण का समन्वय करने के हेतु केन्द्रीय अधिकोष की स्थापना सम्बन्धी सुझाव।

समिति ने भारतीय चलन-पद्धति के विवेचन एवं विश्लेषण के उपरान्त चलन-पद्धति के दोष बताये तथा उन्होंने मौद्रिक मान अपनाने के सम्बन्ध

में स्टर्लिङ्ग-विनिमय-मान, स्वर्ण-विनिमय-मान, स्वर्ण-मुद्रा-मान तथा स्वर्ण-खण्ड-मान पर भी विचार किया जिसमें पहिले तीन मान उन्होंने त्याग दिये तथा चौथा, स्वर्ण-खण्ड-मान, अपनाने की सिफारिश की। वर्तमान चलन-पद्धति सम्बन्धी निम्नलिखित दोष बताये गये (ये दोष भारतीय स्वर्ण-विनिमय-मान के ही दोष थे) :—

१. चलन-पद्धति साधारण न होने से रुपये के मूल्य की स्थिरता का आधार आसानी से समझ में नहीं आता था ;

२. जो निधि रखे जा रहे थे उनमें भी दुहेरी पद्धति थी ; उदाहरणार्थ, स्वर्ण-मान-निधि तथा पत्र-चलन-निधि ;

३. स्वर्ण-विनिमय-मान की कार्य-पद्धति स्वयंपूर्ण (Automatic) नहीं थी और न चलन-पद्धति लोचदार ही थी ;

४. सरकार चलन का नियन्त्रण करती थी तथा साख का नियन्त्रण इम्पीरियल बैंक द्वारा होता था जो देश के व्यापार एवं अर्थ-नियोजन की दृष्टि से अहितकर था ; तथा

५. चलन-पद्धति में अनिश्चितता थी एवं वह सरल नहीं थी, जिसकी वजह से उसमें जनता का विश्वास सम्पादित नहीं होता था। इसलिए उन्होंने निम्नलिखित सिफारिशें कीं जो १६ जनवरी १९२७ को भारत सरकार ने स्वीकृत कीं:—

१. रुपये के मूल्य को १८ पेंस पर स्थिर किया जाय।

२. चलन में पत्र-मुद्रा तथा रुपये रहें और चलन के मूल्यों को स्थिर रखने के लिए उसे स्वर्ण में परिवर्तनशील बनाया जाय किन्तु यह इस रूप में हो कि इस स्वर्ण का मुद्रा के रूप में उपयोग न हो सके। इस प्रकार इङ्गलैंड के नमूने पर भारत में भी स्वर्ण-खण्ड-मान का सुझाव ही पेश किया गया; क्योंकि स्वर्ण-विनिमय-मान में ऊपर बताये गये दोष थे तथा स्वर्ण-मुद्रा-मान को अपनाने के लिए स्वर्ण का अभाव था।

३. चलन सम्बन्धी व्यवस्था किसी बड़े अधिकोष के हाथ में दी जाय और ऐसे अधिकोष की तुरन्त स्थापना की जाय जिसका नाम 'रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया' हो।

४. सॉवरेन एवं अर्धसॉवरेन को विधिग्राह्य न रखा जाय जिससे उसे लेने के लिए कोई बाध्य न किया जा सके।

५. एक रुपये की पत्र-मुद्रा फिर से चलाई जाय तथा उसे विधिग्राह्य बनाया जाय तथा चलन-विभाग (Currency Department) को यह अधिकार हो कि वह बड़ी पत्र-मुद्रा के बदले रुपये की पत्र-मुद्रा दे अथवा चाहे तो रुपये भी दे।

६. रुपये के लेन-देन के लिए लोग बाध्य बने रहें परन्तु जब तक उनकी संख्या काफी कम न हो जाय तब तक नये रुपये न ढाले जायँ।

७. पत्र-चलन-निधि तथा स्वर्णमान-निधि को मिलाकर उसमें स्वर्ण, रौप्य एवं प्रतिभूतियों (Securities) का परिमाण विधान द्वारा निश्चित कर दिया जाय।

८. विपत्रों तथा धनादेशों पर जो मुद्रांक-कर (Stamp Duty) है उसे उठा दिया जाय।

९. निधि की स्वर्ण एवं चाँदी के अतिरिक्त रकम भारतीय विपत्रों तथा भारत सरकार की प्रतिभूतियों में रखी जाय।

सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने समिति की रिपोर्ट पर अपना विरोधी मत प्रकट किया तथा उन्होंने अपनी राय यह दी कि विनिमय-दर १८ पेंस के बदले १६ पेंस—जो २० साल से रही है—होनी चाहिए क्योंकि १८ पेंस की दर कृत्रिम रूप से स्थिर की गई है। उन्होने यह भी कहा कि "फाउलर समिति की राय भी पूर्णरूप से स्वर्णमान अपनाने के सम्बन्ध में थी, परन्तु अंग्रेजी अर्थ-अधिकारियों ने उस उद्देश्य को कभी भी पूरा नहो होने दिया और उन्होंने सदा भारतीय मुद्रा के सम्बन्ध मे वही नीति अपनाई जो इङ्गलैंड के व्यापारियों या पूंजीपतियो के लिए लाभकर थी, न कि इस देश की जनता के लिए। इस नीति-रीति का उद्देश्य होता आया था : भारतवर्ष का दोहन करके इङ्गलैंड के 'मुँह में धारोष्ण पहुँचा देना।"[1] इसलिए सर पुरुषोत्तमदास ने सुझाया कि अब भी ऐसे उपायों का अवलम्बन किया जाय जिससे आज नहीं तो कल स्वर्णमान का अवलम्बन पूर्णरूपेण हो सके। परन्तु उनके इस सुझाव पर कोई ध्यान नहीं दिया गया तथा रुपये की विनिमय-दर १८ पेंस पर ही निश्चित की गई। रिजर्व बैंक की स्थापना सम्बन्धी सुझाव पर सर पुरुषोतमदास का यही मत था कि कोई नई संस्था खड़ी न करते हुए यह काम इम्पीरियल बैंक को ही दे दिया जाय।

---

[1] घनश्यामदास बिड़ला कृत 'रुपये की कहानी' पृ० १८५.

विनिमय-दर सम्बन्धी वाद-विवाद

विनिमय-दर १८ पेंस हो अथवा १६ पेंस, यह समस्या वादग्रस्त बन गई थी। १८ पेंस वाली दर जनता को आपत्तिजनक जँची तथा एक अभूतपूर्व देशव्यापी आन्दोलन खड़ा हो गया जिसमें सरकार की ओर से १८ पेंस की दर सम्बन्धी दलीलें तथा जनता की ओर से १६ पेंस की दर सम्बन्धी दलीलें सामने रखी गईं, जिनको देखना परम आवश्यक है।

१६ पेंस के पक्ष में : १. १८ पेंस प्रति रुपये की दर नैसर्गिक न होते हुए कृत्रिम है तथा इसको दो वर्ष स्थिर रखने में सरकारी कार्रवाई का हाथ रहा है। अगर यह दर, जो ऊँची है, निश्चित की जाती है तो भारतीय निर्यात-व्यवसाय कम हो जायगा तथा आयात को प्रोत्साहन मिलेगा जो भारत के हित में नहीं है क्योंकि इसमें भारतवर्ष के उत्पादकों एवं करोड़ों किसानों को हानि थी—लाभ था केवल ब्रिटिश व्यवसायिकों, आयातकर्त्ताओं तथा अङ्गरेज कर्मचारियों को।

२. रुपये का मूल्य उसकी वास्तविक दर से अधिक निश्चित कर देने में भारतीय उद्योगों की हानि होगी क्योंकि वे विदेशों से प्रतिस्पर्धा में टक्कर न ले सकेंगे। इसी प्रकार एशियाई बाजारों में भी भारतीय माल इंगलैंड, जापान आदि देशों के माल से टक्कर न ले सकेगा।

३. यहाँ की कीमतों का समायोजन अभी ठीक प्रकार से नहीं हुआ है बल्कि दाम अभी गिरने वाले हैं जो १२½ प्रतिशत तक ही गिरेंगे (क्योंकि १८ पेंस और १६ पेंस की दर में भी यही अन्तर है) इसलिए अगर १६ पेंस की दर रखी जाय तो आर्थिक स्थिति में जो परिवर्तन होंगे वह नगण्य होंगे किन्तु १८ पेंस की दर अगर कर दी गई तो घोर आर्थिक संकट आये बिना न रहेगा। इसके अतिरिक्त १८ पेंस की दर से हमारे यहाँ का स्वर्ण-आयात रुक जायगा क्योंकि हमारे यहाँ के निर्यात की कीमतें ऊँची होने से हम विदेशी बाजारों में न जा सकेंगे जिससे हमारे यहाँ के उत्पादकों को तथा किसानों को भारी हानि होगी।

४. सरकार के अर्थ-विभाग को गृह-व्यय आदि के भुगतान में जो इंगलैंड को वार्षिक रकम देनी पड़ती है उसमें १६ पेंस की दर से अधिक हानि अवश्य होगी किन्तु उसकी पूर्ति सरकार की आय में वृद्धि द्वारा हो जायगी क्योंकि बढ़ते हुए निर्यात के कारण लोगों का लाभ बढ़ेगा तथा आय-कर और

निराकाम्य-कर (Custom Dutics) की आय में वृद्धि हो जायगी। इस प्रकार १६ पेंस की दर निश्चित करने से सरकारी अर्थ-विभाग को भी कोई हानि नहीं होगी।

५. समिति के सभासदों का कहना था कि १६ पेंस की दर रखने से मजदूरी की दर चढ़ने से हानि होगी परन्तु यह बात बिल्कुल गलत है क्योंकि मजदूरी की दर उसी समय काफी ऊँची थी तथा १६ पेंस की दर अगर निश्चित कर दी जाती तो उद्योगों की उन्नति होती जिससे बेकारी कम होती और देश के किसानों एवं उद्योगपतियों को अधिक लाभ होता।

६. मजदूरी का अभी तक १८ पेंस की दर से मिलान अथवा समायोजन (Adjustment) नहीं हो पाया था और अगर यह दर निश्चित कर दी जायगी तो मजदूरी की दर कम करनी पड़ेगी, जिसकी वजह से पूँजीपतियों और श्रमिकों में सद्भावना न रहते हुए झगड़ा पैदा हो जायगा तथा देश के आर्थिक ढाँचे को बुरी तरह धक्का लगेगा।

इन सब कारणों को देखते हुए सर पुरुषोत्तमदास का कहना था कि जो दर गत २० वर्षों से अच्छी तरह काम कर रही है उसमें परिवर्तन करने की आवश्यकता ही क्या है, जब कि अन्य देशों में भी युद्धोपरान्त वही दर अपनाई गई है जो युद्धपूर्व थी। इस दर (१६ पेंस) पर हमारे स्वर्ण-मान-निधि से व्यापारिक शेष की प्रतिकूलावस्था में अधिक स्वर्ण भी नहीं जायगा। इसी प्रकार, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सरकार के अर्थ-विभाग को भी कोई हानि होने की सम्भावना नहीं है इसलिए १६ पेंस की दर ही निश्चित की जानी चाहिए। लेकिन अगर रुपये की दर १८ पेंस निश्चित की गई तो केवल हमारे आर्थिक ढाँचे को ही धक्का न लगेगा बल्कि ऐसे भीषण परिणाम होंगे, जिनकी आज कल्पना भी नहीं की जा सकती।

१८ पेंस के पक्ष में : १८ पेंस के पक्ष में तथा १६ पेंस के विरुद्ध समिति के अन्य सदस्यों की ओर से निम्नलिखित दलीलें पेश की गईं :—

१. उपर्युक्त विचारों के विरुद्ध यह दलील दी गई कि सर पुरुषोत्तमदास सारे देश की हित की दृष्टि न रखते हुए केवल बम्बई के उद्योगपतियों की दृष्टि से इस समस्या पर विचार करते हैं। देश के लिए वास्तव में न तो ऊँची दर और न नीची दर हानिकर है बल्कि विनिमय-दर में उच्चावचन होना ही हानिकर अधिक है क्योंकि कोई भी दर—ऊँची या नीची—निश्चित

की जाय फिर भी मजदूरी तथा कीमतों का मिलान अथवा समायोजन हो ही जाता है और इसलिए यह दर निश्चित करते समय सब प्रकार की सावधानी रखी जा रही है। उन्होंने यह भी कहा कि चूंकि यह दर दो वर्ष से स्थिर है इसलिए मजदूरी और कीमतों का समायोजन इस दर पर हो चुका है और इसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन करना अब भारतीय व्यापार एवं आर्थिक संगठन के लिए हानिकर होगा।

२. युद्ध-काल के पूर्व जो विदेशों में आदेश दिये गये होंगे वह १६ पेंस पर थे, यह मान भी लिया जाय तो भी ऐसे आदेशों की संख्या बहुत कम होगी क्योंकि युद्ध के बाद जो आदेश दिये गये होंगे वही अधिक होंगे तथा उस समय दर भी १८ पेंस से अधिक न थी, इसलिए व्यापारियों को हानि होने की सम्भावना नहीं है।

३. किसानों को ऊँची दर से १२½ % की हानि होगी यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि कृषिजन्य वस्तुएँ आवश्यकता की वस्तुएँ होने के कारण उनकी माँग में कोई भी परिवर्तन होना असम्भव है और इसलिए ऐसी वस्तुओं की कीमतों में किसी प्रकार की गिरावट नहीं आयगी।

४. समिति सर पुरुषोत्तमदास के इस मत से असहमत थी कि १६ पेंस नैसर्गिक दर है तथा १८ पेंस कृत्रिम, क्योंकि उनका कहना था कि १९१७ से १९२५ तक १६ पेंस की दर रही ही नहीं और जब भी यह दर रही, उसको कृत्रिमता से स्थिर करने के प्रयत्न होते रहे। अगर रुपये की दर स्वतन्त्र छोड़ दी जाती तो वह कहाँ तक स्थिर रहती यह कहना असम्भव है इसलिए १८ पेंस की दर ही इस स्थिति में रहना ठीक है क्योंकि दर १६ पेंस कर देने से आन्तरिक वस्तुओं की कीमतें बढ़ जायँगी जो उपभोक्ताओं तथा मजदूरों की दृष्टि से हानिकर है।

५. यदि दर १६ पेंस कर दी जाय तो सरकार के अर्थ-विभाग को अधिक हानि होगी और उसकी पूर्ति के लिए कर इत्यादि बढ़ाने पड़ेंगे, क्योंकि भारत सरकार को इस दर पर १८ पेंस की दर की अपेक्षा अधिक रुपये देने पड़ेंगे।

यह दलील, जो हमारे अर्थ-सचिव सर बेसिल ब्लैकेट ने दी, बड़ी ही कामयाब रही जिसका उन्होंने बड़ी ही चालाकी से उपयोग किया तथा १८ पेंस की दर का प्रस्ताव स्वीकृत हो जाय इसके लिए और भी कार्य-

ग्राहियाँ की गईं जिसके परिणामस्वरूप १८ पेंस की दर सम्बन्धी प्रस्ताव स्वीकृत हो गया।

स्वर्ण-खण्ड-मान अपनाने के लिए भी भारतीय टंकण-विधान (१९२७) स्वीकृत हुआ जो १ अप्रेल १९२७ से लागू हुआ। विनिमय-दर १८ पेंस स्वर्ण प्रति रुपया, अथवा प्रति रुपया ८·४७५१२ ग्रेन विशुद्ध स्वर्ण, निश्चित की गई। सरकार की यह जिम्मेवारी हो गई कि वह २१≡) रु० प्रति तोले की दर से न्यूनतम ४० तोले स्वर्ण की छड़ें बम्बई टकसाल में जनता से खरीदे तथा विधिग्राह्य चलन के बदले २१≡) रु० प्रति तोले की दर से स्वर्ण अथवा विदेशी मुद्राएँ (स्टर्लिङ्ग) ४०० औंस अथवा १०६५ तोले अथवा इससे अधिक मात्रा में बेचे। स्वर्ण देना अथवा स्टर्लिङ्ग देना सर्वथा सरकार की इच्छा पर निर्भर था। स्टर्लिङ्ग बेचने की दर १ शि० ५ $\frac{3}{32}$ पेंस निश्चित की गई थी।

इस प्रकार वास्तव में देखा जाय तो समिति की सिफारिश के अनुसार जनता को स्वर्ण न मिलते हुए, स्वर्ण मिलना अथवा स्टर्लिङ्ग मिलना यह सरकार पर निर्भर था न कि जनता पर। इसलिए इसे वास्तव में स्वर्ण-खण्ड-मान न कहते हुए स्टर्लिङ्ग-विनिमय-मान कहना ही अधिक उपयुक्त होगा किन्तु स्टर्लिङ्ग स्वर्ण में परिवर्तनशील होने के कारण हम इसे स्वर्ण-विनिमय-मान कह सकते हैं। इस प्रकार जिस मान-पद्धति को सदोष बता कर समिति ने त्याग दिया उसी का दूसरे शब्दों में और रूप में फिर से अवलम्बन किया गया।

१९२७ से १९३९

१९२७ से १९३९ तक की अवधि में दो महत्वपूर्ण घटनाएँ घटीं। एक तो १९३१ में इंगलैंड ने स्वर्णमान का परित्याग किया, जिसकी वजह से भारतीय मुद्रा-प्रणाली के ऊपर भी घोर परिणाम हुए क्योंकि रुपये का गठबन्धन स्टर्लिंग से था। दूसरे, १९३४ में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया विधान पास हुआ तथा १९३५ में इस अधिकोष की स्थापना की गई तथा इस अधिकोष को मुद्रा तथा साख के नियन्त्रण का अधिकार दिया गया और चलन-निधियों का एकत्रीकरण किया गया। इसी के साथ विनिमय-दर की स्थिरता की जिम्मेवारी भी इसी अधिकोष को दी गई।

भारतीय व्यापार की परिस्थिति अप्रेल १९२७ से १९२९ तक हमारे अनुकूल रही और आयात एवं निर्यात के मूल्यों में वृद्धि होती गई किन्तु इस

अवधि में विनिमय-दर में कमजोरी आ गई जो वर्ष-प्रति-वर्ष बनी ही रही। विनिमय-दर में मजबूती लाने के लिए तथा उसे १८ पेंस पर स्थिर रखने के लिए सरकार ने कुछ कमी न की और उसने इम्पीरियल बैंक से विरोध होते हुए भी अधिकोष-दर को ७ प्रतिशत से बढ़ाकर ८ प्रतिशत कर दिया और कोष-विपत्रों (Treasury Bills) की बिक्री को भी बढ़ा कर मुद्रा-संकोच द्वारा पूँजी का निर्गत अथवा बहिर्गमन (Outflow) रोकना चाहा। कोष-विपत्रों की अधिकाधिक तथा ऊँचे ब्याज की दर पर बिक्री करके मुद्रा-संकोच करना, यह सरकार की मुद्रा-नीति का एक मुख्य अंग बन गया।

१९२७-२८ तथा १९२८-२९, इन दो वर्षों में व्यापार का विस्तार काफी हुआ तथा हमारी विनिमय-दर में स्थिरता बनी रही। परन्तु यह स्थिरता हमारे व्यापार के विस्तार की वजह से न होते हुए विश्व-व्यापार के विस्तार तथा विश्व-मूल्यों की स्थिरता की वजह से रही। भारत-सरकार को प्रति वर्ष गृह-व्यय का भुगतान करना पड़ता था जिसके लिए उसके सामने दो मार्ग खुले थे—एक तो स्वर्ण का निर्यात करना तथा दूसरे, भारतीय मुद्रा के आन्तरिक मूल्य को बढ़ा देना। इनमें से हमारी सरकार ने दूसरे मार्ग का अवलम्बन किया। इस प्रकार सरकार का मुद्रा-पद्धति में हस्तक्षेप करना ही हमारी मुद्रा-पद्धति की कमजोरी को दिग्दर्शित करता है। १९२९ में दुनिया की मुद्रा-पद्धति में उलट-फेर होने लगे, विश्व-व्यापार में मन्दी आई और कीमतें धड़ाधड़ गिरने लगीं। इंगलैंड ने १९२५ में स्वर्णमान अपनाया था तथा कृत्रिम तौर से पौंड का स्वर्ण-मूल्य ऊँचा रखने की कोशिश की थी किन्तु १९२९ के बाद स्टर्लिङ्ग का भी स्वर्ण-मूल्य गिरने लगा और पौंड का अवमूल्यन होने लगा। भारतीय रुपये की विनिमय-दर भी स्थिर नहीं हो पाई थी। स्टर्लिङ्ग से बँधा होने में कारण हमारे रुपये की विनिमय-दर में भी १९३० से कमजोरी आने लगी जो फरवरी १९३१ तक चालू रही। इस कमजोरी के लिए एक कारण यह भी था कि उस समय लन्दन में जो गोल-मेज-परिषद् होने वाली थी उसमें १६ पेंस की दर की सिफारिश होगी, यह धारणा बन चुकी थी। यहाँ पर यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि १९२६-२७ से १९३०-३१ तक विनिमय-दर को १८ पेंस पर स्थिर रखने के लिए कुल १०२·५० करोड़ की पत्र-मुद्रा चलन से हटाली गई थी जिसके लिए व्यापारिक क्षेत्रों में बड़ा असन्तोष था किन्तु भारत सरकार ने इस ओर दुर्लक्ष किया। इतना ही नहीं, बल्कि फरवरी १९३१ में भारत-सचिव ने भारत सरकार को यह आदेश भेजा कि दर १८ पेंस स्थिर करने के लिए वह अपने प्रयत्नों में किसी प्रकार कमी न करे। इस प्रकार भारत की जो परिस्थिति १९२७ से

१९३१ तक रही उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि १८ पेंस विनिमय-दर स्थिर रखने में सरकार की अदूरदर्शिता ही थी क्योंकि इस अवधि में न तो भारतीय व्यापार की उन्नति हुई और न विनिमय-दर ही स्थिर रही। इस प्रकार एक ओर तो १९२९ के बाद की विश्व-मन्दी की मार पड़ रही थी और दूसरी ओर भारत में जो राजनैतिक आन्दोलन चल रहा था उसने इस समय आग में घी का काम किया, जिससे भारतवासियों को विशेषत: किसानों को अधिक हानि हुई क्योंकि वस्तुओं के दाम धड़ाधड़ गिरते ही जा रहे थे। दूसरे, सरकार को गृह-व्यय भेजने के लिए पर्याप्त मात्रा में स्टर्लिङ्ग भी नहीं मिल रहे थे। इतना ही नहीं, बल्कि नवम्बर १९३० से मार्च १९३१ तक परिस्थिति ऐसी भयंकर रही कि सरकार को ५६ लाख स्टर्लिङ्ग बेचने पड़े और सितम्बर १९३१ तक रुपये की दर स्थिर रखने के लिए १४० लाख स्टर्लिंग फिर बेचने पड़े। ये सब बातें यह प्रमाणित करती हैं कि विनिमय-दर १८ पेंस स्थिर रखने में भारतीयों को कितनी हानि हुई और इस अदूरदर्शिता के कितने भयंकर परिणाम हुए जो न होते यदि सर पुरुषोत्तमदास आदि भारतीयों के मत पर सरकार विचार करती।

१९३१ का चलन संकट तथा रुपये का स्टर्लिंग से गठबन्धन

इंगलैंड ने १९२५ में फिर से स्वर्णमान अपनाया था तथा स्टर्लिंग का स्वर्ण-मूल्य बढ़ाने की क्रिया मुद्रा-संकोच द्वारा वहाँ भी कार्यान्वित हो रही थी। परिणामस्वरूप मई १९२५ में इंगलैंड के स्टर्लिंग का मूल्य—जो फरवरी १९२० में ३·३८२ डॉलर था—बढ़ते-बढ़ते ४·८५ डॉलर हो गया और जब स्टर्लिंग ने अपना स्वर्ण-मूल्य प्राप्त किया तो बैंक ऑफ इंगलैंड ने स्टर्लिंग पत्र-मुद्रा के बदले स्वर्ण देना शुरू किया जो अल्पकालीन रहा क्योंकि थोड़ी ही अवधि में इस अधिकोष के स्वर्ण-निधि में बहुत कमी आगई एवं उस कमी को पूरी करने में अधिकोष असमर्थ रहा। परिणामस्वरूप इंगलैंड को सितम्बर १९३१ में स्वर्ण का परित्याग करना पड़ा और क्रमशः स्टर्लिंग का स्वर्ण में अवमूल्यन होने लगा। हमारा रुपया स्टर्लिंग से सम्बन्धित होने के कारण हम भी उससे बच न सके और रुपये का स्वर्ण-मूल्य भी गिरने लगा और उस परिमाण में मन्दी भी बढ़ने लगी जो इंगलैंड के स्वर्णमान-परित्याग के कारण तीव्रतर हो गई। १९३१-३२ में विश्व व्यापार में १९२९ की अपेक्षा ३३% कमी आ गई थी। भारतीय कृषिजन्य पदार्थों की कीमतें भी बुरी तरह गिर रही थीं जिससे यहाँ पर भयंकर असन्तोष था जिसकी वजह से इस संकट

के परिणामों में और भी भीषणता आगई। इस अवधि में परिस्थिति में सुधार करने के लिए किसानों को लगान में छूट दी गई। सरकार की भी आर्थिक कठिनाइयाँ बढ़ने लगीं जिसके लिए अल्पकालीन कोष-विपत्रों द्वारा सरकार ने ऋण भी लिया। विनिमय-दर बहुत कमजोर हो गई तथा १९३१ में वह निम्नतम स्वर्ण-विन्दु पर आगई तथा विनिमय-दर को निम्नतम स्वर्ण-विन्दु पर स्थिर रखने के लिए, जैसा कि ऊपर कहा गया है, बड़ी मात्रा में स्टर्लिंग बेचने पड़े क्योंकि भारत से पूँजी बाहर जाने लगी।

इंगलैंड के स्वर्णमान परित्याग करने के कारण भारत सरकार को रुपये के स्टर्लिंग के साथ गठबन्धन पर फिर से विचार करना पड़ा। १९२७ के विधान द्वारा जब रुपया १ शि० ६ पेंस स्टर्लिंग के बराबर कर दिया गया था तब स्टर्लिंग का स्वर्ण-मूल्य भी उतना ही था किन्तु अब स्वर्ण-परित्याग के बाद स्टर्लिंग का ३० प्रतिशत अवमूल्यन हो गया था। इसलिए अब प्रश्न यह था कि रुपये की विनिमय-दर क्या हो तथा उसका स्वर्ण से सम्बन्ध जोड़ा जाय अथवा स्टर्लिंग से।

इसलिए सबसे पहिले स्वर्ण का इंगलैंड में परित्याग होते ही एक आदेश (Ordinance No. VI of 1931) द्वारा सरकार के रुपयों के बदले स्वर्ण या स्टर्लिंग देने की व्यवस्था हटादी गई। इसका तात्पर्य यही हो सकता है कि सरकार रुपये का सम्बन्ध न तो स्वर्ण से और न स्टर्लिंग से ही रखना चाहती थी तथा रुपये के बन्धन को पूर्णतया स्वतन्त्र छोड़ देना चाहती थी। किन्तु उसी दिन भारत-सचिव ने यह ऐलान किया कि भारत की वर्तमान चलन-व्यवस्था स्टर्लिंग के आधार पर रहेगी अर्थात् भारतीय रुपये का मूल्य १८ पेंस स्वर्ण के बदले अब १८ पेंस स्टर्लिंग रहेगा। यह आदेश १९३१ के आदेश नं० ६ के विपरीत था। भारत-सचिव के इस आदेश के अन्तर्गत अब स्टर्लिंग प्रति रुपया १७ $\frac{49}{64}$ पेंस की दर पर कुछ विशेष विनिमय-अधिकोषों को मिल सकता था, सर्वसाधारण को नहीं—और वह भी कुछ विशिष्ट कार्यों के लिए ही। इस प्रकार रुपये को स्टर्लिंग से बाँध देने के कारण भारत का भाग्य भी इंगलैंड के भाग्य पर निर्भर हो गया और स्टर्लिंग के मूल्य-परिवर्तन के साथ रुपये के मूल्य में भी परिवर्तन होने लगे और रुपये के अवमूल्यन के कारण हमारे यहाँ की कीमतें और भी गिरने लगीं और एक प्रकार से रुपये का अकाल पड़ गया जिस वजह से जो स्वर्ण अभी तक भूमिगत अथवा गहनों में था वह बिकने लग गया। इसी के साथ उन लोगों ने भी, जो स्वर्ण की बढ़ी हुई कीमतों से लाभ कमाना चाहते थे, अपना सोना बेचना शुरू किया, जो बाद में विदेशों में भेजा जाने लगा।

भारत-सचिव का रुपया-स्टर्लिंग-गठबन्धन का आदेश आते ही ऋणों का नई दर पर समायोजन करने की दृष्टि से अधिकोषों की तीन दिन की छुट्टी सूचित की गई और २४ सितम्बर १९३१ को नया आदेश—१९३१ का आदेश नं० ७ (Ordinance No. VII of 1931)—निकाला गया जिसके अनुसार, जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, स्वर्ण की विक्री अथवा स्टर्लिंग की विक्री विशिष्ट व्यापारिक कार्यों तक ही सीमित करदी गई, क्योंकि अगर असीमित विक्री की जाती तो शायद यहाँ पर स्वर्ण का आयात होता, जिसे रोकने के लिए यह कदम उठाया गया था। इसके अतिरिक्त इसका उद्देश्य विनिमय-दर १८ पेंस पर स्थिर करना भी था। इस कार्य में विनिमय-अधिकोषों ने सरकार को पूर्ण सहयोग दिया जिसकी वजह से सरकार रुपये की दर १८ पेंस पर स्थिर करने में सफल रही। फिर भी साधारण जनता इस दर के विरोध में ही रही।

ऊपर कहा गया है कि रुपयों के अकाल के कारण स्वर्ण की विक्री होने लगी तथा वह निर्यात भी किया जाने लगा जिसकी वजह से निर्यात की वस्तुओं में स्वर्ण का भी समावेश हो गया जिससे १८ पेंस की दर स्थिर रहने में काफी सहायता मिली, किन्तु भारत का स्वर्ण बाहर जाने लगा जो हमारी आर्थिक परिस्थिति का द्योतक था। इस स्वर्ण-निर्यात के कारण हमारा व्यापारिक शेष भी हमारे अनुकूल रहने लगा और स्टर्लिंग की अधिकता हो जाने से स्टर्लिंग की विक्री पर जो प्रतिबन्ध १९३१ के आदेश नं० ७ द्वारा लगाये गये थे, वे ३१ जनवरी १९३२ से हटा लिये गये तथा स्टर्लिंग की बिक्री अप्रतिबन्धित होने लगी। यह स्वर्ण-निर्यात की क्रिया १९३१-३२ से द्वितीय महायुद्ध तक चालू रही और इन ९ वर्षों में भारत से ४१७·८ लाख औंस सोना विभिन्न कीमतों पर निर्यात हुआ जिसकी कुल कीमत ३९२·४५ करोड़ रुपये थी। इस निर्यात पर केवल महायुद्ध प्रारम्भ होने के बाद ही प्रतिबन्ध लगाये गये।

स्वर्ण के इस निर्यात पर भारतीय प्रतिनिधियों ने बड़ी आलोचना की किन्तु फिर भी स्वर्ण-निर्यात को रोकने के लिए सरकार ने किसी भी प्रकार के प्रयत्न नहीं किये। इन लोगों का कहना यह भी था कि १८ पेंस स्टर्लिंग की दर भी भारत के लिए हानिकर है क्योंकि यह दर केवल शासकीय अधिकारियों द्वारा धारासभा की राय के बिना निश्चित की गई थी। दूसरे, स्टर्लिंग के साथ रुपये का गठबन्धन होने से रुपये के भाग्य का निर्णय स्टर्लिंग पर पूर्णतः निर्भर हो गया था। तीसरे, यह विनिमय-दर ऊँची होने के कारण। स्टर्लिंग का अवमूल्यन होने के कारण स्वर्ण का मूल्य बढ़ गया था और

स्वर्ण की ये कीमतें स्टर्लिंग में और भी अधिक थीं। स्वर्ण की कीमतों में अन्तर होने के कारण स्वर्ण का भारत से निर्यात होगा—जैसा कि हुआ भी—जिसकी वजह से भारत का स्वर्ण-निधि कम हो जायगा। चौथे, जो देश स्वर्णमान पर आधारित हैं उनसे होने वाले भारतीय आयात-व्यापार को धक्का लगेगा क्योंकि उन देशों का माल यहाँ पर महँगा पड़ेगा। पाँचवें, इस विनिमय-दर की वजह से भारत से केवल अक्तूबर १९३१ से मार्च १९३२ तक के ६ महीनों में ही ५८ करोड़ रुपयों का स्वर्ण निर्यात हो चुका है। छठे, रुपये का स्टर्लिंग से गठबन्धन होने से हमारे व्यापारिक शेष में भी गिरावट आ गई।

इस प्रकार भारत में १९३१ से वास्तव में स्टर्लिङ्ग-विनिमय-मान अपनाया गया, हालाँकि भारतीय टंकण-विधान में इसका नाम स्वर्ण-खण्ड-मान ही रहा क्योंकि स्टर्लिङ्ग स्वर्ण से बँधा न होने के कारण हम रुपयों से केवल स्टर्लिंग ही प्राप्त कर सकते थे। यह थी रिजर्व बैंक की स्थापना के समय की परिस्थिति।

ऐसी संकटमय परिस्थिति में १९३१ की केन्द्रीय अधिकोषण जाँच-समिति ने भी अपनी रिपोर्ट में रिजर्व बैंक की स्थापना पर जोर दिया और सरकार इसकी स्थापना पर विचार करने लगी और अन्त में ६ अगस्त १९३४ को रिजर्व बैंक की स्थापना का विधेयक (Bill) स्वीकृत हुआ और १ अप्रेल १९३५ को रिजर्व बैंक की स्थापना की गई जिसे मुद्रा-चलन एवं साख-नियन्त्रण का अधिकार दिया गया।

इस बैंक की स्थापना से भारतीय चलन की स्थिति में होने वाले निम्नलिखित परिवर्तन महत्त्वपूर्ण हैं :—

१. भारतीय मुद्रा-चलन तथा साख-नियन्त्रण करने का एवं पत्र-मुद्रा-चलन का एकाधिकार इस अधिकोष को है तथा इसी अधिकोष के पास अन्य आवश्यक अधिकोषों के शेष जमा रहेंगे।

२. अब इसकी स्थापना से पत्र-चलन-निधि, स्वर्ण-निधि तथा अधिकोष-निधि का एकत्रीकरण हो गया।

३. रुपये की विनिमय-दर १८ पेंस पर स्थिर रखने की वैधानिक जिम्मेदारी इस अधिकोष पर है और यह अधिकोष स्वर्ण के क्रय-विक्रय द्वारा विनिमय-दर के उच्चावचन को १७$\frac{२७}{३२}$ पेंस तथा १८$\frac{३}{१६}$ पेंस की मर्यादा में रखता है।

इसी समय फिर रुपये और स्टर्लिंग के अनुपात ने विवाद का रूप धारण किया और विनिमय-दर को १६ पेंस पर स्थिर करने के लिए जनता की ओर से प्रयत्न किये गये। भारतीय कांग्रेस ने भी ४ दिसम्बर १९३८ को श्री सुभाषचन्द्र बोस की अध्यक्षता में निम्न प्रस्ताव स्वीकृत किया :—

"जब से रुपये की दर १८ पेंस निश्चित करदी गई है तब से यहाँ का व्यवसायी वर्ग और सार्वजनिक संस्थाएँ इसका विरोध करते आ रहे हैं। उनकी माँग यही रही है कि चूँकि हुण्डी की यह दर आर्थिक दृष्टि से भारतवर्ष के लिए अहितकर है, इसमें रद्दोबदल होना जरूरी है। भारत सरकार इस लोकमत की उपेक्षा करती आई है। ६ जून (१९३८) को उसने इस विषय पर एक वक्तव्य निकाल कर कहा कि वह हुण्डी की दर में कोई भी हेरफेर करना नहीं चाहती और दलील यह पेश की कि हेरफेर करने से परिस्थिति इतनी डावाँडोल हो जायगी कि लोगों को लाभ के बदले हानि उठानी पड़ेगी।

"समिति की राय में १८ पेंस की दर से यहाँ के किसानों की गहरी हानि हुई है। इसने उनकी पैदावार की कीमत गिरा दी है और बाहर से आने वाले माल को अनुचित फायदा पहुँचाया है।......पिछले ७ वर्षों में यह सिर्फ सोने के बड़े पैमाने पर निर्यात के कारण ही टिक सकी है। इस निर्यात से देश को बड़ी क्षति हुई है।......भारतवर्ष के पास सोने और स्टर्लिंग के रूप में जो सम्पत्ति बच गई है उसको बरबाद करके ही हुण्डी की यह दर कायम रखी जा सकती है।......देश की भलाई इसी में है कि हुण्डी की दर को टिकाने का प्रयत्न छोड़ दिया जाय और सरकार इसे शीघ्रातिशीघ्र १६ पेंस कर देने की दिशा में अग्रसर हो।"

('रुपये की कहानी'—घनश्यामदास बिड़ला)

लेकिन इस प्रस्ताव पर भी कोई ध्यान न दिया गया और सरकार यही कहती रही कि इस बिगड़ी हुई व्यापारिक परिस्थिति की दशा में अगर विनिमय-दर को गिरा दिया जायगा तो इससे किसानों को बड़ी हानि होगी और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति को देखते हुए इस दर में कोई भी परिवर्तन होना असम्भव है। दूसरे, सरकार की अर्थ-व्यवस्था पर भी इस परिवर्तन से बुरा परिणाम होगा इसलिए १८ पेंस की दर ही रहना ठीक है क्योंकि दर गिराने से केवल सट्टेबाजों को ही लाभ होगा, जनसाधारण को नहीं।

इस प्रकार भारत में स्टर्लिंग-विनिमय-मान स्थापित किया गया जो पूर्णरूप से नियन्त्रित था। रुपया ही भारत की प्रमाणित एवं प्रतीक मुद्रा

थी और साथ में पत्र-मुद्रा भी, जो असीमित विधिग्राह्य थी। हमारा रुपया इस समय भी १८० ग्रेन का था जिसमें $\frac{११}{१२}$ भाग चाँदी थी और अठन्नियों में भी $\frac{११}{१२}$ भाग चाँदी थी और ये दोनों ही मुद्राएँ असीमित विधिग्राह्य थीं। विदेशी भुगतान के लिए चलन-अधिकारी अथवा रिजर्व बैंक की यही जिम्मेदारी थी कि वह रुपये और पत्र-मुद्रा के बदले स्टर्लिंग १८ पेंस प्रति रुपये की दर से बेचे तथा रुपयों और पत्र-मुद्रा के बदले स्टर्लिंग इसी दर से खरीदे। इस दर को १७$\frac{२७}{३२}$ पेंस और १८$\frac{३}{१६}$ पेंस के बीच रखने की जिम्मेदारी भी रिजर्व बैंक विधान की धारा ४० व ४१ के अनुसार इसी अधिकोष पर थी। इस रुपया-स्टर्लिंग-गठबन्धन के कारण स्टर्लिंग ही हमारा भाग्य-निर्माता है क्योंकि इङ्गलैंड की आर्थिक परिस्थिति की झलक भारतीय आर्थिक व्यवस्था पर भी पड़ती है और इसका प्रत्यक्ष उदाहरण—सितम्बर १९४९ में जो रुपये का अवमूल्यन हुआ—हमारे सामने है।

यह थी देश की परिस्थिति तथा यह था देश का मौद्रिक मान, जिस समय द्वितीय महायुद्ध का आह्वान किया गया।

प्रश्न

१. प्रथम महायुद्ध का भारतीय चलन एवं मौद्रिक इतिहास पर क्या प्रभाव हुआ ?

२. प्रथम महायुद्ध की वजह से भारतीय चलन में कौनसी कठिनाइयाँ आईं और किस प्रकार उनका निवारण किया गया ?

३. बेबिंगटन स्मिथ कमिटी की मुख्य सिफारिशें कौनसी थीं तथा उन पर क्या कार्यवाही की गई और वह कहाँ तक उचित थी ?

४. हिल्टन यंग समिति की क्या सिफारिशें थीं और उन पर क्या कार्यवाही की गई और वह कहाँ तक उचित थी ?

५. १८ पेंस बनाम १६ पेंस का विनिमय-दर सम्बन्धी विवाद क्यों और कैसे उपस्थित हुआ ? इस सम्बन्ध में आपका क्या मत है ?

६. स्वर्ण-खण्ड-मान पद्धति का भारतवर्ष में किस प्रकार अवलम्बन हुआ और उससे भारतीय व्यापार, उद्योग एवं सरकारी अर्थ-विभाग पर क्या परिणाम हुए ?

७. १६३१ के बाद भारत में कौनसी चलन-व्यवस्था की गई और उसके क्या परिणाम हुए ?

८. भारत में स्टर्लिंग-विनिमय-मान कब और कैसे अपनाया गया ? किस प्रकार से उसको विभिन्न समय में कार्यान्वित किया गया ?

९. भारतीय स्वर्णमान-निधि की वर्तमान परिस्थिति क्या है ? उसका निर्माण कब और किस कार्य के लिए किया गया था ?

अध्याय १३

भारतीय चलन-पद्धति और द्वितीय महायुद्ध

(१९३९ से १९५०)

३ सितम्बर १९३९ को जब द्वितीय महायुद्ध की घोषणा की गई उस समय भारत में स्टर्लिङ्ग-विनिमय था। भारत की प्रमाणित मुद्रा और प्रतीक के रूप में रुपया, पत्र-मुद्रा तथा अठन्नियाँ चलन में थीं जो विदेशी भुगतान के लिए १८ पेंस स्टर्लिङ्ग की दर से बेची अथवा खरीदी जा सकती थीं। रुपया, अठन्नी तथा पत्र-मुद्रा असीमित विधिग्राह्य मुद्रा थीं और देश में छोटी रकम के भुगतान के लिए निकेल की चवन्नियाँ, दुअन्नियाँ, इकन्नियाँ एवं ताँबे के पैसे चलन में थे जो केवल एक रुपये तक विधिग्राह्य थे।

युद्ध के प्रारम्भ होते ही भारतवर्ष का ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तगर्त समावेश होने से भारत को भी युद्ध में भाग लेना पड़ा जिसकी वजह से हमारी चलन-पद्धति एवं विनिमय-पद्धति पर घोर परिणाम हुए तथा उनको दूर करने के लिए महत्वपूर्ण परिवर्तन भी करना आवश्यक हुआ। युद्ध के प्रारम्भ काल में भारतीय चलन-पद्धति में कुछ अव्यवस्था सी आने लगी किन्तु बाद में इस युद्ध के दुष्कर परिणामों का अच्छी तरह सामना किया गया क्योंकि हमारी चलन-पद्धति ने बदली हुई परिस्थिति से शीघ्र ही अपना मिलान अथवा समायोजन (Adjustment) कर लिया। युद्ध के फलस्वरूप हमारी आर्थिक परिस्थिति पर बुरी तरह खिंचाव पड़ा परन्तु फिर भी हमारी अर्थ-व्यवस्था को विशेष हानि नहीं हुई बल्कि फायदा ही हुआ, क्योंकि युद्ध के कारण हमारे उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन मिला, हमारा व्यापारिक शेष अनुकूल रहा और इस अनुकूलता के कारण बहुत बड़ी मात्रा में हम इंगलैंड से लेनदार रहे जो रकम पौंड-पावने (Sterling Balances) के रूप में इंगलैंड में जमा है। इस प्रकार इस महायुद्ध के कारण हमारी चलन-पद्धति पर निम्नलिखित परिणाम हुए :—

१. युद्ध की सामग्री की पूर्ति करने के लिए सबसे प्रथम हमारे यहाँ के चलन का बड़ी मात्रा में विस्तार हुआ जिसकी वजह से पत्र-मुद्रा का चलन १८२·३६ करोड़ रुपये से—जो १९३८-३९ में था—बढ़कर अप्रेल १९४६ में १२७३·७३ करोड़ रुपये हो गया। परिणामस्वरूप हमारे यहाँ का मूल्य-स्तर भी बढ़ गया क्योंकि जिस अनुपात में चलन का विस्तार होता गया उसी अनुपात में हमारे यहाँ उत्पादन-वृद्धि नहीं हुई।

२. हमारी स्टर्लिङ्ग-प्रतिभूतियाँ (Sterling Securities) बड़ी मात्रा में एकत्रित हो गई क्योंकि इङ्गलैंड की ओर से भारत में युद्ध चलाने के लिए बड़ी मात्रा में सामान खरीदा गया था। ये पौंड-पावने स्टर्लिङ्ग-प्रतिभूतियों में रिजर्व बैंक द्वारा खरीदे गये थे। इनकी रकम १९३८–३९ में ६६·९५ करोड़ रुपये थी जो मार्च १९४४ में ९४५ करोड़ तथा अप्रेल १९४६ में ११२५·३२ करोड़ रुपये हो गई थी। इसी प्रकार रुपये की प्रतिभूतियाँ १९३९ से १९४६ तक की अवधि में ३२·१६ करोड़ से ५७·८४ करोड़ रुपये हो गई थीं।

३. युद्ध के कारण चलन-पद्धति में एवं परिस्थिति में जो परिवर्तन हुए उनसे हमारे सामाजिक ऋण (Public Debt) का ढाँचा भी बदल गया।

युद्ध के प्रारम्भ होते ही तत्कालीन प्रभाव यह हुआ कि भारतीयों को मुद्रा-पद्धति में संशय प्रतीत होने लगा जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने सरकारी प्रतिभूतियाँ (Government Securities) तथा प्रेपालय-प्रमाणपत्र (Post Office Cash Certificates) बेचना शुरू किया और अपने प्रेपालय बचत अधिकोष लेखे (P. O. Savings Bank a/c) में से तथा अन्य अधिकोषों से अपनी रकम निकालना शुरू किया। इस अविश्वास का कारण उस समय भारत संरक्षण विधेयक (Defence of India Bill) का विचाराधीन होना भी था क्योंकि जनता का ऐसा खयाल था कि इस विधेयक के स्वीकृत होते ही वैयक्तिक सम्पत्ति पर सरकार का अधिकार हो जायगा। इस वदन्ता का सरकार की ओर से खण्डन किया गया तथा अधिकोषों से और प्रेपालयों से अपनी जमा निकालने के लिए भी भुगतान के लिए समुचित व्यवस्था की गई जिसकी वजह से हमारी चलन-पद्धति में शीघ्र ही जनता को विश्वास हो गया। परिणामस्वरूप जनता ने अधिकोषों से रुपये निकालना बन्द कर दिया तथा बड़ी मात्रा में राष्ट्रीय संचय प्रमाण-पत्र (National Savings Certificates) खरीदना शुरू किया।

इस अविश्वास के कारण लोगों ने अपनी पत्र-मुद्रा का रुपयों में परिवर्तन कराना शुरू किया और जून १९४० तक प्रति सप्ताह १ करोड़ रुपये की पत्र-मुद्रा के बदले रुपये दिये गये। मई १९४० में युद्ध का पासा इङ्गलैंड के विरुद्ध पलटता हुआ दिखाई देने लगा और जून १९४० में फ्रान्स की हार के साथ भारतीय जनता का अविश्वास फिर से जागृत हुआ जिसके कारण प्रति सप्ताह ४ करोड़ रुपये की पत्र-मुद्रा चाँदी के रुपयों में बदली जाने लगी जिसकी वजह से रिजर्व बैंक के चलन-विभाग (Issue Department) में ७९·४७ करोड़ रुपयों के बदले, जो युद्ध के प्रारम्भ में थे, ९ जुलाई १९४० को केवल ३२ करोड़ रुपये रह गये। परिवर्तनस्वरूप जो चाँदी के रुपये जनता के पास जाते थे वे चलन में न रहते हुए भूमिगत होने लगे जिसकी वजह से रुपयों का अभाव भी हो गया। इस अभाव में सरकार की ओर से सुरक्षा (Defence) के लिए जो व्यय किया जा रहा था उसमें और भी तीव्रता आई जिसकी वजह से मूल्य गिरने की एवं व्यापारिक अव्यवस्था (Trade Dislocation) की सम्भावना प्रतीत होने लगी इसलिए सरकार द्वारा भारत-सुरक्षा विधान के अन्तर्गत एक आदेश निकाला गया कि कोई भी व्यक्ति ऋण के अथवा अन्य भुगतान में पत्र-मुद्रा तथा रुपये लेना अस्वीकार नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त रुपयों की कमी को दूर करने के लिए २४ जुलाई १९४० के आदेश द्वारा भारत सरकार को एक रुपये की पत्र-मुद्रा चलन में लाने का अधिकार दिया गया जो सब कार्यों के लिए रुपये के बराबर घोषित की गई। २९ जून १९४० को रुपये के नियन्त्रण की योजना शुरू हुई जिसके अनुसार घोषणा की गई कि जो व्यक्ति आवश्यकता से अधिक रुपये या मुद्राएँ लेगा वह भारत-सुरक्षा विधान के अन्तर्गत दण्ड का अधिकारी होगा; और यह वैयक्तिक अथवा व्यापारिक आवश्यकता कितनी है, इसका निर्णय रिजर्व बैंक के हाथ में रहेगा। इसका परिणाम यह हुआ कि पत्र-मुद्रा के बदले अब कम रुपये माँगे जाने लगे लेकिन रुपये की माँग अब अन्य उपायों से पूरी की जाने लगी और पत्र-मुद्रा कई स्थानों पर अपहार से (At a Discount) बिकने लगी।

१९४० के भारतीय टंकण-संशोधन विधान (Indian Coinage Amendment Act of 1940) के द्वारा चवन्नियों तथा अठन्नियों की चाँदी का परिमाण ११/१२ से १/२ कर दिया गया तथा २९ दिसम्बर १९४० के आदेशानुसार रुपयों में भी चाँदी के परिमाण में कमी की गई और यह परिमाण १/२ भाग कर दिया गया। इसके बाद १९४२-४३ में छोटी प्रतीक

मुद्राओं की भारी कमी का अनुभव हुआ क्योंकि ताँबे के पैसे भी गलाये जाने लगे या भूमिगत किये जाने लगे। इस अभाव को दूर करने के लिए बम्बई, कलकत्ता, कानपुर आदि बड़े-बड़े शहरों में डाक-टिकटों का भी उपयोग किया गया। इस प्रकार छोटी मुद्राओं का चलन से बाहर जाना रोकने के लिए भारत-सुरक्षा विधान के अन्तर्गत अधिक रेजगारी का संचय एवं अधिकार दण्डनीय अपराध घोषित किया गया तथा बम्बई और कलकत्ता की टंकशालाओं में पैसे ढाले जाने लगे जिनका औसत ७२० लाख प्रति मास था। (यही औसत १६३३ में १६० लाख था।) फिर भी पैसों का अभाव रहा और लाहौर में एक नई टंकशाला स्थापित की गई जहाँ अगस्त १६४२ से सिक्के ढालना प्रारम्भ हुआ।

फिर भी रुपयों का अभाव रहा जिसे दूर करने के लिए १ फरवरी १६४२ से शुरू की पत्र-मुद्राओं का चलन भी प्रचलित किया गया तथा १६४२ के अन्त तक १४० लाख रुपये की २) रु० की पत्र-मुद्राएँ बम्बई, कानपुर, लाहौर और कलकत्ता से चलन में आईं। इस प्रकार की अथवा इनके सदृश्य अन्य पत्र-मुद्राएँ बनाना एवं चलाना भी दण्डनीय अपराध घोषित किया गया। भारतीय १६४०_के टंकण-संशोधन विधान के अन्तर्गत विक्टोरिया की मुद्रा के रुपये तथा अठन्नियाँ भी ३१ मार्च १६४१ के बाद विधिग्राह्य न रहेंगी, यह भी घोषित किया गया और उनको चलन से निकालने के हेतु ३० सितम्बर १६४१ तक उनकी स्वीकृति प्रेपालय तथा सरकारी कोषों में होगी यह भी घोषित किया गया। ३० दिसम्बर १६४० को टंकण-विधान में तीसरा संशोधन हुआ जिसके अनुसार नये रुपये, जिनके किनारे किटकिटीदार तथा बीच में रेखा वाले थे, चलाये गये। इनमें चाँदी का परिमाण ६० ग्रेन अथवा ½ भाग रहा तथा इस नई किटकिटी के कारण जाली सिक्के बनाना कठिन हो गया। ८ दिसम्बर १६४१ को एडवर्ड सप्तम की मुद्रा वाले रुपये तथा अठन्नियाँ १ जून १६४२ से अवैधानिक घोषित कर दी गई तथा यह भी घोषित किया गया कि इनकी स्वीकृति ३० सितम्बर १६४२ तक सरकारी कोषों में एवं प्रेपालयों में की जायगी एवं मद्रास, कलकत्ता और बम्बई में रिजर्व बैंक में ये तब तक लिये जायेंगे जब तक इनकी अस्वीकृति की सूचना घोषित नहीं होगी। इसी प्रकार १ अक्तूबर १६४२ से जॉर्ज पंचम् एवं षष्ठम् की मुद्रा वाली अठन्नियाँ एवं रुपये जो ११/१२ भाग चाँदी के थे, उनको चलन से हटाने के लिए १ मई १६४३ से उन्हें भी अवैधानिक घोषित कर दिया गया। फिर भी ये सरकारी कोषों में एवं प्रेपालयों में ३१ अक्टूबर १६४३ तक तथा

बम्बई, मद्रास व कलकत्ता की रिजर्व बैंक की शाखाओं में आगामी सूचना तक दिये जा सकते थे। इन रुपयों के बदले जॉर्ज षष्ठम् के नये रुपये जिनमें १/२ भाग चाँदी थी, चलन में लाये गये।

१ मई १९४२ से विक्टोरिया तथा एडवर्ड सप्तम के रुपये एवं अठन्नियाँ तथा १ नवम्बर १९४३ से जॉर्ज पंचम् और जॉर्ज षष्ठम् के रुपये एवं अठन्नियाँ (जिनमें ११/१२ भाग चाँदी थी) भारत में अवैधानिक घोषित किये गये। इस प्रकार १९४२ से १९४६ तक कुल ५९८·२९ करोड़ रुपये चलन से निकाल लिये गये तथा नये रुपये और पत्र-मुद्राएँ चलन में आईं।

इस प्रकार युद्ध के प्रारम्भ होते ही जो मुद्राओं की कमी परिवर्तन के कारण प्रतीत होने लगी थी वह समय-समय पर आवश्यक आदेशानुसार पूरी की गई तथा सामयिक परिस्थिति से समायोजन (मिलान) करने के लिए चलन-पद्धति में भी परिवर्तन किया गया। युद्ध-काल के पाँच वर्षों (१९३९-४० से १९४३-४४) में ही हमारे यहाँ का चलन ६१·७४ करोड़ से ८८४·९३ करोड़ हो गया। इसके विपरीत रिजर्व बैंक के पास जो स्वर्ण था वह ४४·४१ करोड़ ही रहा तथा चाँदी की मात्रा ७५·८७ करोड़ से केवल १५·९ करोड़ रुपये की ही रह गई एवं प्रतिभूतियों का परिमाण अपरिमित बढ़ गया क्योंकि इन प्रतिभूतियों में अधिकतर स्टर्लिंग-प्रतिभूतियाँ थीं जिनके मूल्यों में भी अवमूल्यन हो रहा था और स्टर्लिङ्ग का स्वर्ण-मूल्य न होने के कारण हमारे देश में मुद्रा-स्फीति के लक्षण स्पष्ट दिखाई देने लगे।

व्यापारिक परिस्थिति

युद्ध के फलस्वरूप हमारी व्यापारिक परिस्थिति में भी काफी परिवर्तन हुआ तथा विदेशी व्यापार में हमारे आयातों से निर्यात बहुत बड़ी मात्रा में बढ़ने लगे। इसका प्रमुख कारण तो यह था कि हमारे यहाँ की आयात-वस्तुओं में बहुत कमी हो गई क्योंकि युद्धग्रस्त देश युद्ध के लिए माल बनाने में लगे हुए थे। दूसरा कारण यह था कि युद्ध-सामग्री के स्थानान्तरण के लिए यातायात का उपयोग पूर्णरूप से किया जा रहा था इसलिए उपभोग की वस्तुओं के स्थानान्तरण पर भी यातायात की कमी के कारण प्रतिबन्ध लगाये गये थे। तीसरे, विदेशी भुगतान के लिए विदेशी मुद्राओं की प्राप्ति भी युद्ध-परिस्थिति के कारण उतनी आसानी से नहीं हो सकती थी। इसके अतिरिक्त हमारे निर्यातों पर भी प्रतिबन्ध लगाये गये थे जिससे कि वे विशिष्ट मार्ग द्वारा ही निर्यात किये जा सकें और उनका पूर्ण उपयोग केवल मित्र राष्ट्रों द्वारा ही

हो सके। इस काल में भारत से निर्यात बढ़ता ही गया तथा हमारे व्यापारिक शेष में जो १९३८-३९ में केवल १७ करोड़ रुपये की अनुकूलता थी वह १९३९-४० में ४९ करोड़ रुपये, १९४०-४१ में ४२ करोड़ रुपये तथा १९४३-४४ में ९० करोड़ रुपये हो गई। इस बड़ी मात्रा में विदेशी निर्यात के कारण हमारे यहाँ कीमतों में वृद्धि हुई तथा व्यापारिक शेष की अनुकूलता के कारण रुपये की १८ पेंस की दर में भी स्थिरता आने लगी। इस व्यापारिक शेष की अनुकूलता के कारण हमारा इंगलैंड पर बहुत बड़ी मात्रा में 'पौंड-पावना' है जो 'स्टर्लिंग बेलेन्सेज' के नाम से इंगलैंड में भारत सरकार की ओर से जमा है।

विनिमय-नियन्त्रण

भारत-सुरक्षा विधान के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को यह अधिकार दिया गया कि वह विदेशी विनिमय के सब प्रकार के व्यवहारों का, स्वर्ण एवं प्रतिभूतियों का, नियन्त्रण करे। परिणामस्वरूप रिजर्व बैंक में 'विनिमय-नियन्त्रण विभाग' नामक एक नया विभाग खोला गया जिस पर इस प्रकार के नियन्त्रणों पर शासकीय कार्यवाही की जिम्मेवारी थी। यह अधिकार १९३९ में प्रदान किये गये थे। इस अधिकार द्वारा रिजर्व बैंक ने अनुज्ञापत्र (License) प्राप्त किये बिना स्वर्ण का आयात एवं निर्यात करने पर प्रतिबन्ध लगा दिये जो ४ सितम्बर तथा १६ अक्टूबर १९४० से लगाये गये तथा मार्च १९४१ के बाद रिजर्व बैंक की पूर्व अनुमति प्राप्त किये बिना स्वर्ण के किसी भी रूप में निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाया। इसी प्रकार जो देश ब्रिटिश साम्राज्य में नहीं थे उनकी मुद्राओं के क्रय-विक्रय पर प्रतिबन्ध लगाये गये जिसके अन्तर्गत इन मुद्राओं का क्रय-विक्रय केवल व्यापारिक कार्यों के लिए, प्रवास-व्यय के लिए तथा कुछ वैधानिक भुगतान के लिए ही किया जा सकता था और इस प्रकार के सब व्यवहार 'चलन के विनिमय-नियन्त्रण' की आधारभूत दरों पर ही किये जा सकते थे। ब्रिटिश साम्राज्यान्तर्गत देशों की मुद्राओं का क्रय-विक्रय केवल अधिकृत अधिकोषों से ही किया जा सकता था जिससे इन मुद्राओं का क्रय-विक्रय भी नियन्त्रण में रहे। इस प्रकार विनिमय-नियन्त्रण योजना को यशस्वीरूप से कार्यशील करने के लिए जो विभिन्न नियन्त्रण लगाये गये वे निम्नलिखित हैं :—

१. स्वतन्त्र स्टर्लिंग-क्षेत्र का विस्तार (Extension of a Free Sterling Area) : यह क्षेत्र उन देशों का बना हुआ है जो

ब्रिटिश साम्राज्य में हैं तथा इन देशों में पूँजी का आयात-निर्यात अप्रतिबन्धित अर्थात् बिना किसी रोक-टोक के हो सकता है। इस क्षेत्र में ब्रिटिश साम्राज्यान्तर्गत देशों—मिस्र, सीरिया, मेडागास्कर, ईराक आदि—का समावेश होता है।

२. विदेशी विनिमय के उपयोग पर नियन्त्रण : इस योजना के अन्तर्गत हमारे निर्यात का विदेशी मुद्रा में जो मूल्य होता था उसका उपयोग ब्रिटिश राज्य-संघ को अधिक से अधिक हो, इस हेतु इस प्रकार प्राप्त की हुई विदेशी मुद्राओं का उपयोग रिजर्व बैंक के मतानुसार होता था। इस योजना के अन्तर्गत १० मई १९४० से विलास की वस्तुओं के आयात (Import of Luxury Goods) पर नियन्त्रण लगाया गया तथा उपभोग-वस्तुओं (Consumer Goods) का आयात केवल स्टर्लिंग-क्षेत्रों तक ही मर्यादित किया गया। इसी प्रकार विदेशी मुद्राओं के विक्रय—विशेषतः दुर्लभ मुद्राओं के विक्रय (Sale of Hard Currencies)—पर नियन्त्रण लगाये गये। इन नियन्त्रणों का हेतु यही था कि युद्धजन्य सामग्री जो अमेरिका आदि देशों से आयात की जाती थी, उसकी प्राप्ति बिना कठिनाई के हो सके। विदेशी मुद्रा का युद्ध-कार्य के लिए अधिकाधिक उपयोग करने के हेतु रिजर्व बैंक से अनुज्ञापत्र प्राप्त किये बिना चाँदी के आयात पर भी प्रतिबन्ध लगाये गये तथा डॉलर का राष्ट्रीय हित की दृष्टि से अच्छे से अच्छा उपयोग करने के लिए राष्ट्रीय लाभ के लिए जो प्रवासी जाते थे, उनको ही डॉलर बेचे जा सकते थे। इन प्रतिबन्धों में १९४४-४५ में युद्ध की समाप्ति के बाद ही छूट दी गई जिससे विद्यार्थियों, व्यापारियों तथा प्रवासियों को सुविधा हो एवं उपभोग-वस्तुओं का आयात हो सके।

३. डॉलर-शेष एवं प्रतिभूतियों पर अधिकार (Acquisition of Dollar Balances and Securities) : इसी प्रकार डॉलर का अधिकाधिक उपयोग करने के हेतु भारतीयों की जो रकम अमेरिका में डॉलर-शेष के रूप में अथवा अमरीकी प्रतिभूतियों में थी उस पर भी रिजर्व बैंक ने अधिकार किया तथा उसके बदले रुपये में भारत में भुगतान किया गया।

४ मुद्रा, पत्र-मुद्रा आदि के आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध : किसी भी प्रकार की भारतीय मुद्रा को रिजर्व बैंक के अनुज्ञापत्र के बिना निर्यात करने पर, नवम्बर १९४० से, प्रतिबन्ध लगाया गया जिससे भारतीय मुद्रा चलन से निकल कर बाहर न बेची जा सके। उसी प्रकार सितम्बर

१९४२ से भारतीय मुद्रा, ईरानी रायल, अफगानी रायल तथा लंका की पत्र-मुद्रा के अतिरिक्त सब प्रकार की मुद्रा के आयात पर भी प्रतिबन्ध लगाये गये और जनवरी १९४४ से भारतीय पत्र-मुद्रा के अतिरिक्त अन्य सब पत्र-मुद्राओं के आयात पर भी रोक लगादी गई। इस प्रकार की रोक लगाने का हेतु शत्रु राष्ट्रों द्वारा प्रचारित पत्र-मुद्रा को रोकना तथा अपनी मुद्रा का उपयोग शत्रु राष्ट्रों को न होने देने का था।

५. विदेशी मुद्रा में भुगतान करने पर भी अक्तूबर १९४१ से प्रतिबन्ध लगा दिये गये जिससे कि जो प्रमण्डल (Companies) भारत से अपने माल स्टर्लिंग-क्षेत्र के बाहर भेजना चाहते थे वे माल को न भेज सकें और इस प्रकार की विदेशी मुद्रा की बचत को युद्धजन्य कार्यों के लिए उपयोग में लिया जा सके।

इन विभिन्न नियन्त्रणों का हेतु देश के आर्थिक ढाँचे को सुव्यवस्थित कर विदेशी विनिमय को युद्ध-कार्य के लिए समुचित एवं पूर्ण उपयोग में लाना, शत्रु राष्ट्रों के द्वारा हमारी सम्पत्ति के उपयोग को प्रतिबन्धित करना तथा आयात-निर्यात के नियन्त्रण द्वारा युद्ध-कार्य के लिए यातायात साधनों का पूर्ण उपयोग करना था।

६. इसी प्रकार जुलाई १९४१ से भारत-स्थित जापानी प्रमण्डल तथा व्यवसायों की सम्पत्ति को भी भारत सरकार ने सुरक्षा विधान के अन्तर्गत अधिकार में ले लिया तथा उनकी व्यवस्था शत्रु-सम्पत्ति-संरक्षक (Custodian of Enemy Property) को सौंप दी गई जिससे इस सम्पत्ति का उपयोग मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध न हो सके। इसी प्रकार विदेशी लोगों का जो धन भारतीय अधिकोषों में था उसके भुगतान पर भी कुछ विशेष कार्यों के अतिरिक्त रिजर्व बैंक ने रोक लगादी।

इस प्रकार युद्ध-काल में विनिमय-नियन्त्रण की नई पद्धति चालू की गई तथा कुछ हद तक आज भी विनिमय नियन्त्रित है।

इसके अतिरिक्त युद्ध-काल में हमारा जो स्टर्लिङ्ग-ऋण था उसका भी भुगतान, तथा रुपये की ऋण-प्रतिभूतियों में परिवर्तन, किया गया तथा यह ऋण ३६६·५ करोड़ रुपये (१९३८-३९) से केवल १४ करोड़ रुपये (१९४३-४४ मे) रह गया। रिजर्व बैंक की १९४५-४६ की रिपोर्ट के अनुसार ३२·३ करोड़ पौंड के ऋण का भुगतान किया गया एवं बाकी ऋणों को रुपयों की ऋण-प्रतिभूतियों में, जिनका मूल्य २७३·५७ करोड़ है, परिवर्तित किया गया।

कर-वृद्धि

देश की रक्षा के हेतु तथा युद्ध-संचालन के लिए भारतीय सेना पर प्रति दिन २० लाख रुपये का व्यय होता था जिसकी पूर्ति करने के लिए भारत सरकार को नये-नये कर लगाने पड़े तथा करों में वृद्धि भी करनी पड़ी। १९४० से आय-कर के साथ २५ प्रतिशत अतिरिक्त-कर (Surcharge) लगा दिया गया तथा पोस्टकार्ड आदि के मूल्यों में भी वृद्धि की गई। १९४२ में अधिक-लाभ-कर (Excess Profit Tax) को भी ५० प्रतिशत से बढ़ा कर ६६⅔ प्रतिशत कर दिया गया तथा अतिरिक्त-कर भी २५ प्रतिशत से ३३⅓ प्रतिशत हो गया। अनेक वस्तुओं, जैसे शकर, दियासलाई आदि, पर चुङ्गी-कर (Excise Duty) में वृद्धि की गई। इस प्रकार करों से होने वाली आय भी ८९.९२ करोड़ रुपयों (१९३९-४०) से बढ़कर १९४५-४६ में ३५३.७४ करोड़ रुपये हो गई।

युद्ध-व्यय पूर्ति के लिए सरकार को विभिन्न प्रकार के ऋणपत्र भी निकालने पड़े और इन ऋणपत्रों द्वारा सरकार ने लगभग २८४ करोड़ रुपया उधार लिया। इन ऋणपत्रों के द्वारा लोगों के हाथ में जो अतिरिक्त क्रयशक्ति थी वह सरकार के पास आजाने से कुछ हद तक मुद्रा-स्फीति से होने वाले परिणाम भी न हो सके।

मूल्य-वृद्धि एवं मूल्य-नियन्त्रण

इस प्रकार हमने देखा कि युद्ध-काल में रुपयों का चलन बहुत बढ़ गया, भारत से युद्ध के लिए बहुत माल बाहर जाने लगा, तथा युद्ध के लिए सरकार ने बड़ी मात्रा में ऋण लिया। इन सब कारणों से १९४० से हमारे यहाँ का मूल्य-स्तर भी बढ़ने लगा जो युद्ध-समाप्ति के समय २९० प्रतिशत बढ़ गया था। मूल्य-स्तर में इस वृद्धि के दो ही प्रमुख कारण थे :—एक तो उत्पादन की विशेष वृद्धि न होने से चलन का विस्तार दिन दूना और रात चौगुना बढ़ता जा रहा था तथा दूसरे, हमारे यहाँ से वस्त्र, खाद्यान्न आदि दैनिक आवश्यकता की वस्तुएँ बाहर भेजी जा रही थीं जिससे माँग एवं पूर्ति का सन्तुलन नष्ट हो गया। इसी के परिणामस्वरूप बंगाल का भीषण अकाल भी हुआ था जिसमें किन्हीं दामों पर भी अन्न नहीं मिलता था और न खरीदने के लिए लोगों के पास पैसा ही था। अस्तु।

मूल्य-स्तर में वृद्धि रोकने के लिए सुरक्षा-विधान के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार ने प्रान्तीय सरकारों को ८ सितम्बर १९३९ को खाद्यान्न, दवाइयाँ,

रसायन, कपड़ा आदि आवश्यकता की वस्तुओं के अधिकतम मूल्य निश्चित करने के लिए आदेश दिया जिससे कि मूल्य-वृद्धि १ सितम्बर १९३९ के मूल्यों की तुलना में १० प्रतिशत से अधिक न हो। इस आदेश पर तुरन्त ही कार्यवाही की गई। किन्तु फिर भी मूल्य-वृद्धि को रोका न जा सका तथा बंगाल के अकाल पर सरकार की बुरी तरह आलोचना होने लगी। फलस्वरूप दिसम्बर १९४२ से खाद्यान्न-वितरण (Food Rationing) योजना का श्रीगणेश हुआ जिसकी कार्य-प्रणाली से हम अच्छी तरह परिचित हो चुके हैं। (यह वितरण योजना १९४८ में समाप्त करदी गई थी।) इसी समय खाद्यान्नों के निर्यात के कारण इनका अभाव भी अनुभव होने लगा इसलिए १९४२ से 'अधिक अन्न उपजाओ' योजना कार्यान्वित की गई जो आज भी कार्यरूप में है। इसकी यशस्विता के विषय में यहाँ पर लिखना अप्रासंगिक होगा।

मुद्रा-स्फीति

१९४५ में युद्ध की समाप्ति के बाद जनता को आशा थी कि कीमतें गिरेंगी, तथा वस्त्र एवं अन्नादि का अभाव न रहेगा परन्तु ये सब आशाएँ व्यर्थ रहीं और कीमतें दिनों दिन चढ़ती ही गईं इसलिए सरकार द्वारा मुद्रा-स्फीति रोकने के लिए एक नई योजना १९४८ में बनाई गई। यहाँ पर एक बात ध्यान रखना आवश्यक है कि मुद्रा-स्फीति का सबसे बुरा प्रभाव ब्रिटिश साम्राज्यान्तर्गत राष्ट्रों पर जितना हुआ है उतना इङ्गलैंड पर नहीं, क्योंकि इङ्गलैंड में मूल्य-स्तर की वृद्धि केवल ७० प्रतिशत तथा अमेरिका में ३९ प्रतिशत हुई जब कि भारत में १९४४ में लगभग २०० प्रतिशत हुई। इसका कारण यह था कि भारत ने स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियों को खरीद कर उतने ही मूल्य की पत्र-मुद्रा यहाँ बढ़ाई और यह विनियोग ऐच्छिक न होते हुए जबरदस्ती करवाया गया।[1] इस प्रकार इङ्गलैंड की मुद्रा-स्फीति का प्रभाव साम्राज्यान्तर्गत राष्ट्रों में वितरित किया गया। मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिए जो योजना १९४८ में बनाई गई थी उसके अनुसार खाद्यान्न एवं अन्य आवश्यकताओं का

---

[1] *"The investment of sterling area funds in treasury bills or deposits is a virtually compulsory investment, made as a result of revolution caused by the war in the U. K.'s balance of international payments and by the strict control of sterling exchange."*

—'Economist' July 5, 1941

(Taken from 'War and Indian Economic Policy'
by D. R. Gadgil. P. 8.)

नियन्त्रण किया गया। दूसरे, सरकारी आय-व्यय-पत्रक को भी सन्तुलित करना था तथा यह सन्तुलन करने के लिए व्यय की कमी तथा आय की वृद्धि करना था। तीसरे, हमारे देश की कृषि-उपज तथा औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि करना, लाभांश-वितरण को मर्यादित करना (Limitation of Dividends) तथा अधिकोषण के प्रसार द्वारा छोटी आय वाले व्यक्तियों में बचत कराना जिससे वह उत्पादन कार्य में लगाई जा सके।

इस योजना पर कार्यवाही भी शुरू की गई जिसके अनुसार सितम्बर १९४८ से खाद्यान्न-वितरण योजना को फिर से शुरू किया गया तथा मूल्य नियन्त्रण के लिए और आवश्यक वस्तुओं के वितरण सम्बन्धी अनेक योजनाएँ कार्यरूप में लाई गईं। लाभांश-वितरण ६% से अधिक नहीं हो सकता था तथा इसको कार्यरूप में लाने के लिए लाभांश मर्यादीकरण विधान (Dividend Limitation Act) स्वीकृत हुआ। देश का उत्पादन बढ़ाने के लिए तथा उद्योगों को प्रोत्साहित करने के लिए उनको अनेक प्रकार से सुविधाएँ, उनके करों में कमी करके, दी गईं। ये क्रमशः १९४८–४९, १९४९–५० तथा १९५०–५१ में दी गईं। इसी के साथ-साथ देश की औद्योगिक पूँजी बढ़ाने के लिए अगस्त १९४९ से अनिवार्य बचत योजना (Compulsory Saving Scheme) को भी कार्यान्वित किया गया जिसके अनुसार २५० रुपये तथा इससे अधिक पाने वाले को नियमित रूप से बचत करनी ही पड़ी। इसी प्रकार कृषि-उपज के दाम बढ़ जाने से बहुत सा धन देहातों में इकट्ठा हो गया था जो या तो भूमिगत हो चुका था अथवा गहनों में परिवर्तित हो चुका था। इस धन को खींचने के लिए 'ग्रामीण अधिकोषण जाँच समिति' नवम्बर १९४९ में बनाई गई। उसने अपनी रिपोर्ट अगस्त १९५० में दे दी है जिसके अनुसार इस धन को खींचने के लिए उन्होंने अधिकोषों का—विशेषतः डाकालय बचत अधिकोषों (P.O. Savings Banks) का—देहातों में प्रसार होना आवश्यक बताया है। किन्तु इन सब योजनाओं के होते हुए भी मुद्रा-स्फीति का प्रभाव अभी कम नहीं हुआ है।

चलन-पद्धति में परिवर्तन

युद्ध के बाद हमारे यहाँ की चलन एवं अधिकोषण पद्धति में तीन उल्लेखनीय परिवर्तन हुए जो जनवरी १९४६ में हुए।

१. पहिला आदेश ११ जनवरी १९४६ को दिया गया जिसके अनुसार सब अधिकोषों तथा सरकारी कोषों को ११ जनवरी के सब व्यवहारों के बाद,

उनके पास १०० रुपये एवं इससे ऊंची पत्र-मुद्रा कितनी है, इसका विवरण (Statement) देने के लिए बाध्य किया गया। इस आदेश का हेतु यह जानना था कि कितनी पत्र-मुद्रा चलन में है तथा कितनी अधिकोषों एवं सरकारी कोषों में है।

२. दूसरे आदेश के अनुसार १०० रुपये से अधिक रुपयों की पत्र-मुद्रा की विधिग्राह्यता १२ जनवरी १९४६ से हटाली गई। इसके लिए एक विशेष पद्धति अपनाई गई जिससे कि १०० रुपये से ऊंची पत्र-मुद्रा को १०० रुपये अथवा कम की पत्र-मुद्रा में परिवर्तन किया जा सकता था। इसका हेतु चोरबाजार में व्यापारियों ने जो अतिरिक्त लाभ कमाया था उसको जानना था।

३. तीसरे आदेश के अनुसार, जो १४ जनवरी १९४६ को दिया गया, केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार दिया गया कि वह रिजर्व बैंक द्वारा किसी भी अधिकोष की जाँच कर उसकी कार्यवाही पर रिपोर्ट मांगे। इस आदेश का हेतु अच्छी भित्ति पर अधिकोषण का प्रसार करना था।

४. १९४७ में भारतीय टंकण विधान में संशोधन किया गया तथा चाँदी के बदले निकेल के नये सिक्के चलाये गये जिससे २२·६ करोड़ औंस चाँदी की बचत हुई।

रुपये का अवमूल्यन

१८ सितम्बर १९४९ को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रर्णावि की अनुमति से स्टर्लिंग के साथ रुपये का भी ३०·५ प्रतिशत से अवमूल्यन किया गया। यह अवमूल्यन अन्य २४ देशों की मुद्राओं का भी हुआ। इसकी वजह से डॉलर-क्षेत्र से आने वाले माल के मूल्य में वृद्धि हुई, हमारे खाद्य-आयात पर प्रभाव पड़ा तथा ये आयात हमको ४४ प्रतिशत महँगे पड़े जिससे हमारे देश के मूल्य-स्तर में वृद्धि हो गई। दूसरे, पाकिस्तान ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नहीं किया जिसकी वजह से हमारे यहाँ पाकिस्तानी माल का आयात भी हमको महँगा हो गया है जिसका विशेष प्रभाव चाय के कारखानों पर पड़ा है। इस प्रकार हमारा निर्यात बढ़ जाने से जो हमको लाभ होना चाहिए था वह लाभ हमको महँगे दामों में डॉलर-क्षेत्रों के आयात तथा पाकिस्तानी आयात के कारण नहीं होता। तीसरे, हमारे पौंड-पावने जो इङ्गलैंड में ही अभी तक रखे हुए हैं उनके मूल्य में भी ३० प्रतिशत कमी हो गई है जो हमको हानि ही है। चौथे, अन्तर्राष्ट्रीय

अधिकोष से जो हमने २४० लाख, १८५ लाख तथा १० लाख डॉलर के ऋण लिये हैं उनके भुगतान करते समय हमको अब अधिक रुपये देने पड़ेंगे तथा इस प्रकार हमारे ऋण का प्रसार बढ़ गया है।

इन सब प्रभावों को देखते हुए हमको अवमूल्यन होने से लाभ के बजाय हानि ही अधिक हुई है तथा भारत और पाकिस्तान की परस्पर आर्थिक अड़चनें और भी बढ़ गई हैं। हमको यह भी आशा थी १९५० में जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-प्रणीवि की परिषद हुई थी उसमें पाकिस्तानी मुद्रा का अवमूल्यन अन्य ब्रिटिश राष्ट्र संघ के देशों की मुद्राओं की समता में आ जायगा किन्तु हमारी वह आशा भी अभी कुछ काल के लिए जाती रही।

मुद्रांकन में परिवर्तन होना

अभी तक हमारी धातु तथा पत्र-मुद्राओं पर जार्ज षष्ठम् की मुद्रा रहती थी किन्तु १५ अगस्त १९५० से नई मुद्राओं का जो चलन हुआ है उनको पूर्णरूप से भारतीय बनाया गया है तथा भारतीयता की प्रतीक मुद्राओं का उपयोग किया गया है। पत्र-मुद्रा पर भी इसी प्रकार भारतीयता के प्रत्येक चिन्ह अंकित किये गये हैं। निकेल के नये रुपये, अठन्नियाँ तथा चवन्नियाँ १५ अगस्त १९५० से चलन में लाई गई हैं तथा ये मुद्राएँ पूर्णरूपेण भारतीय हैं। ताँबे के नये पैसे भी भारतीय चिन्हों से अंकित बनाये गये हैं तथा पैसा जो वॉशर की तरह था वह भी अब नहीं रहा। नई इकन्नियाँ, दुअन्नियाँ तथा अधन्ने भी क्युप्रो-निकेल धातु के पूर्ण भारतीय चलाये गये हैं।

हमारे चलन की वर्तमान स्थिति

१. जब से भारत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-प्रणीवि का सभासद बना तब से रुपये का स्टर्लिंग से नाता टूट गया तथा उसका स्वर्ण-मूल्य ०·२६८६०१ ग्रेन निश्चित कर दिया गया है जिसमें १८ सितम्बर १९५० से ३० प्रतिशत की कमी की गई है।

२. आन्तरिक प्रमाणित मुद्रा (Standard Money) रुपया ही है हालाँकि वास्तव में वह प्रतीक मुद्रा है और वह स्वर्ण में परिवर्तनीय नहीं है। इसी प्रकार १ रुपये की पत्र-मुद्रा भी प्रमाणित मुद्रा है।

३. विदेशी भुगतान के लिए विदेशी मुद्राओं के क्रय-विक्रय का एकाधिकार रिजर्व बैंक को है तथा यह कार्य वह अन्य अधिकोषों की सहायता से एवं सहयोग से करता है।

४. रुपये का स्टर्लिंग से नाता टूट जाने पर भी, भारत के ब्रिटिश राष्ट्र संघ का सभासदत्व स्वीकार करने से यह नाता अब और भी दृढ़ हो गया है और रुपये का स्टर्लिंग मूल्य १ शि० ६ पेंस है। रिजर्व बैंक विधान की धारा ४०, ४१ को रद्द (Cancel) कर दिया गया है जो इस विनिमय-मूल्य को स्थिर रखने के विषय में थीं। फिर भी विदेशी मुद्रा का क्रय विक्रय करने का अधिकार उसे होने के कारण दर में स्थिरता रखी जाती है।

५. युद्ध-काल में लागू किये गये विनिमय-नियन्त्रण आज भी लागू हैं किन्तु नियन्त्रणों में कुछ छूट दे दी गई है तथा आयात-निर्यात प्रतिबन्धों में भी ढिलाई बर्ती जा रही है।

प्रश्न

१. द्वितीय महायुद्ध का भारतीय चलन एवं विनिमय-पद्धति पर क्या प्रभाव हुआ ?

२. १६४० में जो नये रुपये आदि चलाये गये उनसे कौनसे आर्थिक लाभ हुए ?

३. अवमूल्यन किसे कहते हैं ? रुपये के अवमूल्यन से क्या परिणाम भारत की आर्थिक स्थिति पर हुआ ?

४. मुद्रा-स्फीति के कारणों का उल्लेख करते हुए उसके निवारण के कौनसे उपाय काम में लाये गये और वे कहाँ तक सफल हुए, लिखिये।

५. भारतीय चलन में असीमित विस्तार होने का क्या कारण है ? हमारी अर्थ-व्यवस्था पर उसका क्या प्रभाव हुआ ?

अध्याय १४

भारतीय पत्र-चलन का इतिहास

भारत में अंग्रेजों के आगमन के पूर्व कुछ हद तक हुण्डियाँ ही पत्र-मुद्रा की तरह कुछ अंश में चलन में थीं किन्तु इनको वास्तव में पत्र-मुद्रा नहीं कहा जा सकता और न ये विधिग्राह्य अथवा सर्वमान्य ही थीं। भारत में सबसे प्रथम पत्र-मुद्रा-चलन प्रेसीडेन्सी अधिकोषों की स्थापना, जो क्रमशः १८०६ में बंगाल में, १८४० में बम्बई में तथा १८४३ में मद्रास में हुई, उसके बाद ही प्रारम्भ हुआ। इन अधिकोषों को पत्र-मुद्रा-प्रसार का अधिकार दे दिया गया था और यह अधिकार ५ करोड़ रुपये की पत्र-मुद्रा तक सीमित था, इसके अतिरिक्त ७ अन्य अधिकोषों को भी पत्र-मुद्रा-प्रसार का अधिकार १८६४ तक था।[1] इन प्रेसीडेन्सी अधिकोषों को पत्र-मुद्रा-चलन के लिए कुल ३३⅓% स्वर्ण-निधि रखना अनिवार्य था। ये पत्र-मुद्राएँ केवल प्रेसीडेन्सी क्षेत्र तक ही सीमित थीं तथा इनमें विधिग्राह्यता भी नहीं थी।

१८६१ से भारत सरकार ने पत्र-मुद्रा-चलन का एकाधिकार ग्रहण किया तथा प्रेसीडेन्सी अधिकोषों से पत्र-मुद्रा-प्रसार का अधिकार छीन लिया गया और इसलिए सब प्रदेशों को बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, इन तीन विभागों में बाँट दिया गया। पत्र-मुद्रा-चलन के लिए पत्र-चलन-विभाग (Paper Currency Department) की स्थापना की गई। इन तीनों विभागों से अलग-अलग पत्र-मुद्राएँ चलन में आईं जो वैधानिक रीति से एक-दूसरे के क्षेत्र में प्रमाणित मुद्रा में अपरिवर्तनीय थीं तथा ये पत्र-मुद्राएँ माँग पर भुगताये जाने वाले प्रतिज्ञा-अर्थपत्र (Promissory Notes) की तरह ही थीं। निश्चित अरक्षित पत्र-मुद्रा (Fixed Fiduciary) की संख्या ४ करोड़ रुपये तक सीमित थी लेकिन इससे अधिक चलन के लिए बराबर के मूल्य में स्वर्ण या चाँदी रखना अनिवार्य था। इस प्रकार जो पत्र-चलन-पद्धति थी उसमें लोच नहीं थी और न थी धातु की मितव्ययिता, परन्तु चलनाधिक्य से सुरक्षितता थी। इसके बाद १८०५ में हर्शेल समिति की

---

[1] *'Paper Currency in India' by B. B. Das Gupta.*

सिफारिश के अनुसार जव रुपयों का मुक्त टंकण वन्द कर दिया गया उस समय अरक्षित पत्र-चलन (Fiduciary Paper Money) की मर्यादा ४ करोड से वढ़ा कर ८ करोड़ रुपये करदी गई क्योंकि रुपया अव प्रतीक मुद्रा होगया था तथा रुपये में चाँदी वाजार भाव से कम होने के कारण १० रु० की पत्र-मुद्रा के वदले केवल ६ रु० की चाँदी ही निधि में रखने की आवश्यकता होती थी। इस प्रकार पत्र-चलन-निधि (Paper Currency Reserve) था।

शुरू-शुरू में १०, २०, ५०, १००, ५००, १००० तथा १०,००० रुपये की पत्र-मुद्राएँ चलाई गई थीं लेकिन १८९१ से ५ रु० की पत्र-मुद्रा भी चलाई गई। क्रमशः ये पत्र-मुद्राएँ सरकारी कोषों पर भी स्वीकृत होने लगीं तथा सरकारी कोषों में इनका रुपयों में परिवर्तन भी होने लगा। प्रारम्भ में पत्र-चलन-निधि में केवल रुपये की प्रतिभूतियाँ ही रखी जाती थीं किन्तु १९०५ से स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ भी पत्र-चलन-निधि में रखी जाने लगीं और वाकी निधि चाँदी में, भारत में ही, रखा जाता था। किन्तु १८९८ से पत्र-चलन-निधि का कुछ अंश स्वर्ण में भारत-सचिव के पास रखा जाने लगा जिसके वदले यहाँ पर पत्र-चलन हो सकता था। इसका उद्देश्य यह भी था कि रुपयों को ढालने के लिए जव चाँदी की आवश्यकता हो तो इस निधि का भारत-सचिव उपयोग करे तथा स्वर्ण-विनिमय-मान में रुपये का विनिमय-मूल्य स्थिर रखने के भी काम आए।[1]

इसके वाद पत्र-मुद्रा को अधिक से अधिक ग्राह्य करने के लिए ५ रुपये की पत्र-मुद्रा भी चलन में लाई गई और १९०३ में पत्र-मुद्राएँ वर्मा को छोड़ कर समस्त भारत के लिए विधिग्राह्य वनाई गई तथा १९०९ में वर्मा के लिए भी यह विधिग्राह्य वनादी गई। १९१० में १० और ५० रुपये की तथा १९११ मे १०० रुपये की पत्र-मुद्राएँ भी इसी प्रकार विधिग्राह्य घोषित की गईं। १९१० में कानपुर, लाहौर, रंगून और करांची भी पत्र-प्रसार-क्षेत्र में आगये। इस प्रकार १९१० में वम्वई, मद्रास, कलकत्ता को मिला कर सात मुद्रा-प्रसार-क्षेत्र हो गये।

---

[1] रुपया-विपत्र वेचकर जो सोना भारत-सचिव को मिलता था वह इस निधि में जमा होता जाता था और उसके वदले भारत में पत्र-मुद्राएँ निकाली जाती थीं और जव रुपये की विनिमय-दर हमारे विपक्ष मे होने लगती थी तव भारत सरकार स्टर्लिङ्ग-विपत्र वेचती थी जिसका भुगतान भारत-सचिव आवश्यकता पड़ने पर इस निधि से, अन्यथा स्वर्ण-मान निधि से, करता था।

१९१३ में पत्र-मुद्रा कुल ६८·१८ करोड़ रुपये की चलन में थी जिसके लिए रक्षित धात्विक निधि ४५·८३ करोड़ रुपये का भारत में तथा ६·१५ करोड़ रुपये का इंगलैंड में पत्र-चलन-निधि में था एवं अरक्षित निधि (Invested Portion) में १० करोड़ की प्रतिभूतियाँ भारत में तथा ४ करोड़ की इंगलैंड में थीं। इस प्रकार कुल पत्र-चलन का केवल २०% भाग अरक्षित था जिस वजह से हमारी पत्र-चलन-पद्धति में धातुओं की मितव्ययिता एवं लोच का अभाव था। इस समय अरक्षित पत्र-चलन की मात्रा १४ करोड़ करदी गई थी।

चेम्बरलेन समिति

१९१३ में चेम्बरलेन समिति ने पत्र-मुद्रा को अधिक लोचदार बनाने के लिए सिफारिश की तथा उन्होंने अरक्षित निधि को १४ करोड़ से २० करोड़ रुपये कर दिया। देश की मौद्रिक आवश्यकताएँ अधिक थीं इस हेतु उन्होंने आगे के लिए अरक्षित निधि का जितना अधिकतम सरकारी कोष-निधि था उससे ⅓ अधिक पत्र-मुद्रा चलाने का मत भी प्रकट किया। इस प्रकार कुल ⅕ अरक्षित पत्र-चलन (Fiduciary Paper Issue) की मात्रा बढ़ा देने पर जोर दिया।[1] उन्होंने यह भी सिफारिशें की कि सरकार को यह अधिकार हो कि वह इस अधिकतम अरक्षित भाग का भारत तथा इंगलैंड में विनियोग (Investment) करे तथा ऋण दे; यह ऋण भारत में केवल प्रेसीडेन्सी अधिकोषों द्वारा निश्चित शर्तों पर दिये जायें ; इसी प्रकार भारत-सचिव को भी यह अधिकार हो कि वह लन्दन में जो परिषद्-विपत्र बेचकर स्वर्ण प्राप्त करे उसको भी ऋणों में विनियोग करे लेकिन किसी भी परिस्थिति में रोक-निधि (Total Cash Reserve) कुल चलन के ⅓ से कम न हो ; ५०० रु० के नोटों में सर्वग्राह्यता लाई जाय एवं पत्र-मुद्रा को सर्वमान्य बनाने के लिए वैधानिक कार्यवाही की जाय तथा पत्र-मुद्रा के परिवर्तन के लिए अधिक सुविधाएँ प्रदान की जायें।

समिति ने इस पद्धति से अनेक लाभ दिखाये थे क्योंकि सब से प्रथम तो आवश्यकता के अनुसार पत्र-चलन की परिवर्तनशीलता अबाधित रहते

---

[1] इसका अर्थ यह था कि अरक्षित पत्र-चलन उतना हो जितना कि उस समय के कुल चलन में से कोष-निधि घटा कर रह जाता था। (Gross circulation of money minus notes held in Government Treasuries.)

हुए अरक्षित पत्र-चलन बढ़ाया जा सकता था ; सरकारी आय भी विनियोग के व्याज की आय से बढ़ जाती ; विना किसी विधान के पत्र-चलन वृद्धि के साथ निधि का विनियोग सरकार कर सकती थी तथा पत्र-चलन-निधि के होने से परिषद-विपत्र भारत-सचिव द्वारा वेचे जा सकते थे ।

लेकिन ये सिफारिशें जब सरकार के सामने विचारार्थ प्रस्तुत की गईं उसी समय प्रथम महायुद्ध की घोषणा होने से इन पर कोई कार्यवाही नहीं की गई ।

प्रथम विश्वयुद्ध-काल

महायुद्ध शुरू होते ही जनता का पत्र-मुद्रा से विश्वास उठ गया और पत्र-मुद्रा के बदले स्वर्ण की माँग होने लगी और सरकार को केवल अगस्त के पहिले ही चार दिनों में १८ लाख पौंड मूल्य का स्वर्ण देना पड़ा जिसकी वजह से सरकार ने स्वर्ण देने पर प्रतिवन्ध लगा दिया । फिर पत्र-मुद्रा के वदले रुपये माँगे जाने लगे और केवल ८ महीने में ही १० करोड़ रुपये की पत्र-मुद्रा का परिवर्तन हुआ । किन्तु १९१५ से क्रमशः चलन-पद्धति में जनता को विश्वास होता गया तथा वढ़ते हुए व्यापार के कारण मुद्रा की माँग भी बढ़ने लगी जिसको पूरा करने के लिए पर्याप्त मात्रा में चाँदी न होने से पत्र-चलन बढ़ाना पड़ा और अरक्षित भाग को १४ करोड़ से बढ़ाकर १९१९ में १२० करोड़ रुपये कर दिया गया तथा २॥) रु० और १) रु० की नई पत्र-मुद्राएं क्रमशः दिसम्बर १९१७ और जनवरी १९१८ से चलन में लाई गईं । फिर भी वढ़ती हुई मौद्रिक माँग की पूर्ति के लिए १९१८ मे रुपयों के टंकण के लिए अमेरिका से २० करोड़ औंस चाँदी खरीदी गई । १९१९ में एक विधान स्वीकृत हुआ जिसके अनुसार पत्र-चलन का अरक्षित भाग १२० करोड़ रुपये कर दिया गया जिसमें से १०० करोड़ रुपये का विनियोग ब्रिटिश कोष-विपत्रों में हो सकता था । इस प्रकार धातु-निधि जो १९१४ में ७८·९ प्रतिशत था वह १९१९ में केवल ३५·८ प्रतिशत रह गया और प्रतिभूतियाँ २१ प्रतिशत से ५४ प्रतिशत हो गईं । इन विनियोगों के मूल्यो के उच्चा-वचन के कारण होने वाली हानि की पूर्ति करने के लिए पत्र-चलन-निधि-अवमूल्यन-प्रणोधि (Paper Currency Reserve Depreciation Fund) बनाया गया जिसमें विनियोग एवं प्रतिभूतियों की आय जमा होती थी ।[1]

---

[1] *'Indian Currency, Banking and Exchange'* by Prof. Chhabalani.

युद्ध-समाप्ति के बाद बेबिंगटन स्मिथ समिति ने पत्र-चलन को लोचदार बनाने के लिए तथा मूल्य-स्थैर्य लाने के हेतु निम्नलिखित सिफ़ारिशें कीं :—

१. अरक्षित पत्र-चलन को १२० करोड़ रुपये किया जाय जिसमें २० करोड़ रुपये से अधिक भारत सरकार की प्रतिभूतियाँ न हों।

२. पत्र-चलन में परिवर्तनशीलता लाने के लिए धातु-निधि कुल चलन के ४० प्रतिशत के बराबर रखा जाय।

३. रुपये का विनिमय-मूल्य २ शि० हो जाने से पत्र-चलन-निधि के स्वर्ण का इस दर से पुनर्मूल्यन (Revaluation) किया जाय।

४. मौसमी मौद्रिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए अरक्षित भाग के अतिरिक्त ५ करोड़ रुपये की पत्र-मुद्रा निर्यात-विपत्रों (Export Bills) के आधार पर चलाई जाय, जो प्रेसीडेन्सी अधिकोषों को ऋण दी जाय।

५. पत्र-चलन-निधि के कुल स्वर्ण एवं चाँदी को भारत में ही रखा जाय। इसमें से इङ्गलैंड में केवल उतना ही रखा जाय जितना कि वहाँ चाँदी खरीदने के लिए आवश्यक हो।

६. परिस्थिति ठीक होते ही पत्र-मुद्रा के परिवर्तन की अधिकाधिक सुविधाएँ दी जायँ तथा परिवर्तन सम्बन्धी युद्ध-कालीन प्रतिबन्ध उठा लिये जायँ। सरकार को यह अधिकार रहे कि वह पत्र-मुद्रा के बदले रुपये दे अथवा स्वर्ण दे।

७. अरक्षित पत्र-चलन किसी भी समय कुल चलन के ६० प्रतिशत से अधिक न हो।

उपर्युक्त सुझावों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ की जनता अनपढ़ है तथा जहाँ पत्र-मुद्रा को अविश्वास की दृष्टि से देखा जाता है वहाँ केवल ४० प्रतिशत धातु-निधि बहुत कम है। इस सुझाव के अनुसार पत्र-मुद्रा की पद्धति को लोचदार अवश्य बनाया गया। इसी दृष्टि से अरक्षित पत्र-मुद्रा-चलन को कुल चलन का ६० प्रतिशत रखना भी बहुत अधिक था। सरकार ने इन सुझावों को सुधार के साथ लागू करने के लिए १९२० में पत्र-चलन-विधान (Paper Currency Act) स्वीकृत किया जिसके अनुसार—

१. धातु-निधि को कुल पत्र-चलन का ५० प्रतिशत किया गया अर्थात् अरक्षित भाग धातु-निधि के मूल्य से अधिक नहीं होना चाहिए। इसको समिति की सिफ़ारिश से अधिक करने का कारण पत्र-मुद्रा के बदले रुपयों

की माँग होने पर रुपये देना तथा मौसमी आवश्यकता के समय पत्र-चलन को रुपये में बदलने की जो माँग होती है उसकी पूर्ति करना था। इस निधि का जो स्वर्ण भारत-सचिव के पास रहता था वह ५० लाख पौंड अथवा ५ करोड़ रुपयों तक ही मर्यादित कर दिया गया।

२. २० करोड़ रुपये की प्रतिभूतियाँ जो भारत में रखी जाती थीं उनके अतिरिक्त शेष निधि का विनियोग इंगलैंड में प्रतिभूतियों में किया जाय जिनके भुगतान की अधिकतम अवधि १२ मास हो।

३. मौसमी मुद्रा की माँग की पूर्ति के लिए चलन-नियन्त्रक (Controller of Currency) को यह अधिकार दिया गया कि वह ५ करोड़ रुपये की पत्र-मुद्रा को चलन में लाये। यह चलन अपहृत विनिमय-विपत्रों (Discounted Bills of Exchange) अथवा निर्यात-विपत्रों (Export Bills) के आधार पर चलाया जाय जिनका भुगतान ६० दिन में हो। यह अतिरिक्त पत्र-चलन इम्पीरियल बैंक को ८ प्रतिशत की दर से ऋण दिया जाय।

इस विधान को तभी कार्यरूप में लाया जा सकता था जब कि पहिली शर्त के अनुसार निधि ५० प्रतिशत हो जाय। इसलिए अन्तरिम काल (Interim Period) के लिए निम्नलिखित नियोजन किया गया। इसका मुख्य कारण यह था कि निधि के स्वर्ण एवं स्टर्लिङ्ग-प्रतिभूतियों के पुनर्मूल्यन से निधि का मूल्य रुपयों में कम हो गया था क्योंकि अब स्टर्लिङ्ग का मूल्य १५ के बदले १० रुपये ही रह गया था।

१. भारत सरकार की प्रतिभूतियाँ, जो निधि में रखी जाती थीं, उनकी मर्यादा ८५ करोड़ रुपये कर दी गई।

२. निधि के पुनर्मूल्यन से होने वाली हानि की पूर्ति के लिए भारत सरकार रुपये की नई प्रतिभूतियाँ (Ad-hoc Rupee Securities) पत्र-चलन-निधि को दे और इनकी जगह क्रमशः स्टर्लिङ्ग-प्रतिभूतियों को रखे।

१९२१ में इम्पीरियल बैंक की स्थापना के बाद अत्यावश्यक पत्र-चलन (Emergency Paper Issue) की जिम्मेवारी इस अधिकोष को दे दी गई तथा बढ़ती हुई मौद्रिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए १९२३-२४ में इसकी मर्यादा भी ५ करोड़ से १२ करोड़ कर दी गई और इसके लिए १९२३ में सन्धनित विधान (Consolidated Act) स्वीकृत किया गया। १९२५ में फिर संशोधन विधान स्वीकृत हुआ जिसके अनुसार भारत सरकार की निधि

में जो प्रतिभूतियाँ थीं उनकी मर्यादा ८५ करोड़ से बढ़ाकर १०० करोड़ कर दी गई लेकिन किसी भी दशा में भारत सरकार की जनित प्रतिभूतियाँ (Created Securities)[1] ५० करोड़ से अधिक नहीं हो सकती थीं। इस विधान के द्वारा पत्र-चलन और भी बढ़ा दिया गया तथा जनवरी १९२६ में १) रु० और २॥) रु० की पत्र-मुद्राएँ जो युद्ध-काल में चलाई गईं थीं उनको चलन से हटा लिया गया।

१९२५ में हिल्टन यंग समिति आई तथा उसने यह सुझाव किया कि पत्र-मुद्रा का चलन केन्द्रीय अधिकोष के हाथ में रहे जिसके लिए शीघ्र ही केन्द्रीय अधिकोष की स्थापना हो। पत्र-मुद्रा का परिवर्तन रुपयों में न होते हुए स्वर्ण में होगा लेकिन कम से कम १०६५ तोले अथवा ४०० औंस स्वर्ण ही पत्र-मुद्रा के बदले २१ रु० ३ आ० १० पाई की दर से केन्द्रीय अधिकोष अथवा इम्पीरियल बैंक से मिल सकेगा। केन्द्रीय अधिकोष को मुद्रा-चलन का एकाधिकार २५ वर्ष तक हो तथा चलन के मूल्य में स्थिरता एवं लोच लाने के लिए तरल प्रतिभूतियों (Liquid Securities) के आधार पर पत्र-चलन किया जाय। इसलिए समिति ने पत्र-चलन ने लिए अनुपात-निधि-पद्धति की सिफारिश की। इसी के साथ जो पत्र-मुद्रा अभी भारत-सरकार द्वारा प्रचारित की गई थी उसकी विधिग्राह्यता हटाली जाय। पत्र-चलन-निधि तथा स्वर्णमान-निधि को मिला दिया जाय एवं उनका अनुपात तथा स्थिति विधान से निश्चित की जाय। निधि में चाँदी का जो वर्तमान अनुपात है उसे क्रमशः कम कर दिया जाय जिससे उसमें १० वर्ष में ८५ करोड़ से २५ करोड़ रुपये की चाँदी रह जाय। केन्द्रीय अधिकोष दो विभागों में हो:— (१) अधिकोपण तथा (२) चलन विभाग (Issue Department)।

इन सिफारिशों में से बहुत सी सिफारिशों को सरकार ने मान्यता दी तथा १९२७ के विधान के अनुसार रुपये का स्वर्ण-मूल्य ८·४७५ ग्रेन अथवा १३ रु० १ आ० ६ पाई प्रति सॉवरेन निश्चित किया गया। इस दर से स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ, जो पत्र-चलन-निधि में थीं, उनका पुनर्मूल्यन हुआ जिससे उनका मूल्य ६३० लाख रुपये से बढ़ गया इसलिए इस रकम से कोष-विपत्रों में कमी कर दी गई। इसी विधान के अनुसार सरकार ने २१ रुपये ३ आने १० पाई प्रति तोले की दर से कम से कम ४० तोले स्वर्ण खरीदने की जिम्मेवारी ली।

[1] जो कोष-विपत्र भारत सरकार आहरित करती है तथा उनकी कालावधि के बाद स्वयं ही भुगतान करती है, उन्हें जनित प्रतिभूतियाँ (Created or Ad-hoc Securities) कहते हैं।

लेकिन इस समय रिजर्व बैंक की स्थापना का विधेयक अस्वीकृत हो गया, इसलिए रिजर्व बैंक की केन्द्रीय अधिकोष के रूप में स्थापना न हो सकी। सरकार पर इस १९२७ के विधान के अन्तर्गत कम से कम ४०० औंस अथवा १०६५ तोले स्वर्ण २१ रुपये ३ आने १० पाई की दर से बेचने की जिम्मेवारी थी परन्तु सरकार विदेशी भुगतान के लिए स्वर्ण दे अथवा स्टर्लिंग दे यह उसकी इच्छा पर निर्भर रहा। परन्तु १९३१ तक स्टर्लिंग स्वर्ण से सम्बन्धित होने के कारण हमारे यहाँ स्वर्ण-खण्ड-मान था किन्तु इसके बाद स्टर्लिंग स्वर्ण से असम्बन्धित हो गया जिससे हमारे रुपये के बदले अथवा पत्र-मुद्रा के बदले भारत सरकार ने स्वर्ण देना बन्द किया और विदेशी भुगतान के लिए केवल स्टर्लिंग ही प्राप्त हो सकता था।

१९३४ में रिजर्व बैंक की स्थापना सम्बन्धी विधेयक स्वीकृत हुआ जिसके अनुसार पत्र-मुद्रा-चलन का एकाधिकार इस अधिकोष को दिया गया और १ अप्रेल १९३५ से रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने कार्यवाही शुरू की। इसी दिन पत्र-चलन-निधि तथा स्वर्णमान-निधि को एकत्रित किया गया। भारत सरकार की पत्र-मुद्रा इस प्रारम्भिक काल में विधिग्राह्य मानी गई थी। पत्र-चलन के लिए स्वतन्त्र चलन-विभाग (Issue Department) था जो अधिकोष-विभाग से अलग था और इस अधिकोष द्वारा ५, १०, ५०, १००, ५००, १००० तथा १०,००० रुपये मूल्य की पत्र-मुद्राएँ चलन में लानी थीं किन्तु ५० और ५०० रुपये की नई पत्र-मुद्रा, उनका चलन कम होने की वजह से, नहीं चलाई गई तथा जो इस मूल्य की पत्र-मुद्राएँ चलन में थीं वे विधिग्राह्य बनी रहीं। इस अधिकोष का पत्र-चलन ब्रिटिश भारत के लिए विधिग्राह्य बनाया गया तथा अधिकोष को इन पत्र-मुद्राओं पर मुद्रांक-कर (Stamp Duty) से भी मुक्त किया गया। इस अधिकोष द्वारा १९३८ में ५, १०, १०० तथा १००० रुपये की पत्र-मुद्रा चलन में लाई गई।

रिजर्व बैंक के चलन-विभाग का लेखा भी अधिकोष-विभाग से अलग रखा जाता है तथा उसी प्रकार स्थिति-विवरण (Balance Sheet) भी। इस स्थिति-विवरण के सम्पत्ति-पार्श्व (Asset Side) में दो विभाग होते हैं:—अ विभाग में स्वर्ण-मुद्रा तथा जो स्वर्ण देश में और देश के बाहर रखा जाता है वह तथा स्टर्लिंग-प्रतिभूतियाँ होती हैं; ब विभाग में चाँदी, चाँदी की मुद्रा, रुपये की प्रतिभूतियाँ तथा अन्य व्यापारिक विपत्र दिखाये जाते हैं। देय-पार्श्व (Liability Side) में अधिकोषण विभाग मे रखी हुई पत्र-मुद्राएँ तथा चलित पत्र-मुद्राएँ दिखाई जाती हैं। इसका स्वरूप सामने के पृष्ठ की सारणी में दिया गया है।

चलन-विभाग

(स्थिति-विवरण—दिनांक २८ मार्च १९४१)

देय	रुपये	सम्पत्ति	रुपये
		अ भाग :	
अधिकोपण विभाग में पत्र-मुद्राएँ...	११,५९,००,०००	स्वर्ण-मुद्रा तथा स्वर्ण :	
		(क) भारत में	४४,४२,००,०००
चलित पत्र-मुद्राएँ :		(ख) भारत के बाहर	—
भारत में विधिग्राह्य ...	२४०,५५,००,०००		
बर्मा में विधिग्राह्य[1] ...	१७,११,००,०००	स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियाँ ...	१०२,२४,००,०००
			१४६,६६,००,०००
		ब भाग :	
		रुपये की मुद्राएँ ...	३४,७१,००,०००
		भारत सरकार की रुपये की प्रतिभूतियाँ ...	८७,८८,००,०००
		देशी विपत्र आदि ...	—
	२६९,२५,००,०००		२,६९,२५,००,०००

[1] अब केवल जो भारत में विधिग्राह्य है वही पत्र-चलन इस जगह दिखाया गया है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि चलन-विभाग की सम्पत्ति स्वर्ण, स्वर्ण-मुद्रा, रुपये, चाँदी, स्टर्लिंग और रुपये की प्रतिभूतियों में होती है, जो किसी भी समय कुल देय से कम नहीं होनी चाहिए। इस सम्पत्ति में स्वर्ण-मुद्राएँ, स्वर्ण अथवा स्टर्लिंग-प्रतिभूतियाँ ४० प्रतिशत अथवा कुल देय के २/५ से कम नहीं होनी चाहिएँ लेकिन स्वर्ण अथवा स्वर्ण-मुद्रा अथवा दोनों मिलकर ४० करोड़ रुपये के होने ही चाहिएँ। शेष सम्पत्ति अर्थात् ३/५ या ६० प्रतिशत भाग रुपये की मुद्राओं, रुपये की प्रतिभूतियों तथा व्यापारिक विपत्रों में रखी जाती है। इस ६० प्रतिशत में से रुपये की प्रतिभूतियाँ कुल सम्पत्ति के १/४ से अधिक अथवा ५० करोड़ रुपये से अधिक (जो भी अधिक हो) नहीं होनी चाहिएँ। लेकिन अगर गवर्नर-जनरल की अनुमति पहिले प्राप्त करली जाय तो ये प्रतिभूतियाँ १० करोड़ रुपये से अधिक हो सकती हैं। ८ फरवरी १९४१ के आदेशानुसार यह नियम खतम कर दिया गया है तथा अब कितनी रुपये की प्रतिभूतियाँ रिजर्व बैंक में रखी जायँ, यह अमर्यादित कर दिया गया है। स्टर्लिंग-प्रतिभूतियों में तीन प्रकार की प्रतिभूतियों का समावेश होता है :—

१. बैंक ऑफ इंगलैंड में भारत के नाम जो शेष जमा है;

२. वे प्रतिज्ञा-अर्थपत्र (Promissory Notes) जिनके उपर दो या दो से अधिक पुरुषों के हस्ताक्षर हों तथा जो ९० दिन की अवधि से अधिक न हों तथा संयुक्त राज्य में आहरित (Drawn) हों या जिनका भुगतान संयुक्त राज्य में हो; तथा

३. पाँच वर्ष की अवधि में भुगतान किये जाने वाले संयुक्त राज्य की सरकार के ऋणपत्र।

स्वर्ण तथा स्वर्ण-मुद्राओं में से ८५ प्रतिशत भाग अथवा १७/२० भाग भारत में रिजर्व बैंक के पास अथवा उसके प्रतिनिधि के पास रहना चाहिए। ४० प्रतिशत के नियम को गवर्नर-जनरल की अनुमति से प्रथम ३० दिन की अवधि के लिए और उसके बाद उसी प्रकार की गवर्नर-जनरल की अनुमति से १५-१५ दिन के लिए भंग किया जा सकता है लेकिन इस परिस्थिति में अगर सम्पत्ति का 'अ' विभाग कुल सम्पत्ति के ३२½ प्रतिशत से कम न हो तो गवर्नर-जनरल को अधिकोष-दर से १ प्रतिशत अधिक की कमी पर कर देना होगा तथा ३२½ प्रतिशत से भी अगर कम होता है तो प्रत्येक २½ प्रतिशत अथवा उसके भाग की कमी पर पहिले की अपेक्षा १½ प्रतिशत की वार्षिक दर से अधिक कर देना होगा।

सम्पत्ति में स्वर्ण अथवा स्वर्ण-मुद्रा का मूल्यांकन (Valuation) ८·४७५ ग्रेन प्रति रुपये की दर से, रुपये का मूल्य उसके मुद्रा-मूल्य (Face Value) से तथा प्रतिभूतियों का मूल्य विपणि-दर (Market Rate) से किया जायगा। १६४० से (जब १ रु० की पत्र-मुद्रा चलाई गई) १ रु० की पत्र-मुद्रा भी रुपये की मुद्रा (Rupee Coin) के अन्तर्गत ली जाती है।

देय-पार्श्व में कुल पत्र-मुद्रा जो चलन में है तथा जो रिजर्व बैंक के अधिकोषण विभाग में है, उसका समावेश किया जाता है।

द्वितीय महायुद्ध के फलस्वरूप हमारे यहाँ चलन का अपरिमित विस्तार हुआ और जुलाई १६४० में १ रु० की पत्र-मुद्रा चलाई गई जो रुपये के सिक्के के समतुल्य है। फरवरी १६४३ में २ रु० की पत्र-मुद्रा चलाई गई जो अभी तक चलन में है। इसके सम्बन्ध में दो आदेश विशेष उल्लेखनीय हैं :—

१. पहिला आदेश ११ जनवरी १६४६ को दिया गया जिसके अनुसार सरकारी कोषों में तथा अधिकोषों के पास जितनी पत्र-मुद्राएँ इस तारीख को व्यापार के अन्त में रहेंगी उनका विवरण रिजर्व बैंक को १२ जनवरी को २ बजे तक भेज देना था। इस विवरण में १००, ५००, १००० तथा १०,००० की पत्र-मुद्राओं का परिमाण (Quantity) अलग-अलग देना था।

२. दूसरे आदेश के अनुसार ५०० तथा इससे अधिक मूल्य की पत्र-मुद्राएँ १२ जनवरी १६४६ को चलन से निकाल दी गईं तथा उनका परिवर्तन कुछ विशेष शर्तों पर १० दिन के अन्दर छोटी पत्र-मुद्राओं में हो सकता था यह आदेश १२ जनवरी १६४६ को निकाला गया। इसके बाद परिवर्तन की अवधि २६ अप्रेल १६४६ तक बढ़ादी गई। यह आदेश केवल ब्रिटिश भारत के लिए ही लागू था। इसके बाद यह आदेश कुछ सुधारों के बाद अन्य शासकीय विभागों में भी लागू कर दिया गया तथा परिवर्तन की अन्तिम तिथि ७ मार्च १६४६ घोषित की गई। १६४८ में कुल पत्र-चलन १३१६·४४ करोड़ रुपये था तथा अधिकोषण विभाग में १०·१८ करोड़ की पत्र-मुद्राएँ थीं।

हमारी पत्र-चलन पद्धति के दोष

राष्ट्रीय नियोजन समिति (National Planning Committee) ने हमारी पत्र-चलन पद्धति में निम्नलिखित दोष बताये हैं :—

१. एक निश्चित मूल्यमापक का अभाव है क्योंकि पत्र-मुद्रा किसी भी निश्चित धातु में परिवर्तनीय नहीं है किन्तु फिर भी असीमित विधिग्राह्य है जो हमारे देश की परिस्थिति को देखते हुए एक बहुत बड़ी कमजोरी है।

२. पत्र-मुद्रा की परिवर्तनशीलता रखने के लिए हम या तो स्टर्लिंग पर या स्टर्लिंग-प्रतिभूतियों पर निर्भर हैं जिससे पौंड के अवमूल्यन का प्रभाव हमारी पत्र-मुद्रा पर होता रहता है और फिर आजकल तो हमारी ९० प्रतिशत से अधिक पत्र-मुद्रा का आधार स्टर्लिंग-प्रतिभूतियाँ ही हैं जिनका भुगतान भी हमको आसानी से नहीं मिलता; इसलिए इस पर आधारित हमारा पत्र-चलन भी अपरिवर्तनीय है, जो दूसरी बड़ी कमजोरी है।

३. लोच का अभाव है अर्थात् व्यापारिक आवश्यकता के अनुसार मुद्रा का प्रसार एवं संकोच नहीं होता क्योंकि जो रुपये चलन में लाये जाते हैं उनकी आवश्यकता की पूर्ति हो जाने पर वे वापस रिजर्व बैंक मे नहीं आते जिससे मुद्रा-संकोच भी आसानी से नहीं हो सकता, जब तक हमारी चलन-पद्धति प्रत्यक्ष रीति से देश के उत्पादन-सगठन तथा वितरण-व्यवस्था से सम्बन्धित नहीं होती। और, जहाँ तक प्रसार का सम्बन्ध है, यह प्रसार रुपये या स्टर्लिंग-प्रतिभूतियों के आधार पर होने से आवश्यकतानुसार चलन का भी प्रसार नहीं हो सकता है बल्कि मुद्रा-स्फीति अवश्य हो सकती है, और आज है, यह प्रत्यक्ष है।

४. देश की अर्थ-व्यवस्था को पत्र-चलन का पूर्ण लाभ तब तक नहीं हो सकता जब तक निधि-नियोजन (Reserve Provisions) में कड़ाई है तथा स्टर्लिंग का अत्यधिक अभाव है। इसलिए उससे अर्थ-व्यवस्था को पूर्ण लाभ हो इसलिए उसका देश की अर्थ-व्यवस्था से, विशेषत: अन्तर्देशीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से, घनिष्ठ सम्बन्ध प्रस्थापित नहीं होता।

५. पत्र-चलन के इतने अधिक प्रसार होने के अतिरिक्त भी पाश्चात्य देशों की तरह हमारे यहाँ निक्षेप-चलन (Deposit Currency) का उपयोग नहीं हो रहा है। इसका कारण यह है कि हमारी कुल राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था (Aggregate National Economy) तथा विभिन्न प्रकार के चलन मे परस्पर सम्बन्ध नहीं है।[1]

इसलिए हमारे पत्र-चलन तथा सम्पूर्ण चलन में परस्पर समन्वय इस दृष्टि से होना आवश्यक है जिससे उसका हमारी अर्थ-व्यवस्था से घनिष्ठ सम्बन्ध

---

[1] *See report of the National Planning Committee on Currency and Banking. Pp. 33-36.*

प्रस्थापित होकर हमारी आर्थिक प्रगति हो सके। इसलिए शीघ्रातिशीघ्र हमारी मुद्रा का स्टर्लिंग-प्रतिभूतियों तथा स्टर्लिंग से सम्बन्ध-विच्छेद होना आवश्यक है। वैसे तो सैद्धान्तिक दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-प्रणीवि की स्थापना के बाद, भारत उसका सभासद होने से, हमारी मुद्रा का स्वर्ण-मूल्य निश्चित हो गया है; फिर भी निधि में आज भी स्टर्लिंग-प्रतिभूतियों का परिमाण ही अधिक है और हमने ब्रिटिश राष्ट्र संघ की सदस्यता तथा ब्रिटिश क्राउन को हमारा राजकीय प्रतीक चिह्न (Symbolic Head) मान लिया है जिससे हमारी मुद्रा का स्टर्लिंग से घनिष्ठ सम्बन्ध होने से अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-चलन में हमारी मुद्रा विशेष प्रभावशाली नहीं रही।

प्रश्न

१. भारत में वर्तमान पत्र-चलन पद्धति कौनसी है ? उसकी कौनसी विशेषता है तथा उसमें क्या दोष हैं ?

२. भारत में पत्र-चलन-निधि कब स्थापित हुआ ? उसमें कब और कौनसे तथा किस हेतु परिवर्तन हुए ?

३. रिजर्व बैंक की स्थापना के बाद किस हद तक हमारी पत्र-चलन पद्धति लोचदार बनाई गई ?

४. हमारी वर्तमान पत्र-चलन पद्धति में तथा गत निश्चित अरक्षित चलन-पद्धति में क्या अन्तर है ? वर्तमान पत्र-चलन पद्धति से क्या लाभ हैं ?

अध्याय १५

हमारे पौंड-पावने

हम यह पीछे बता चुके हैं कि द्वितीय महायुद्ध की सबसे बड़ी देन जो भारतवर्ष को मिली वह स्टर्लिंग-पावने अथवा पौंड-पावने (Sterling Balances) हैं जिनके आधार पर हमारे यहाँ पत्र-मुद्रा-प्रसार बढ़ाया गया। इस काल में भारत ने अपने स्टर्लिंग ऋण को तो चुका ही दिया, इसके अतिरिक्त भूखे पेट और नंगे बदन रह कर ब्रिटेन को करोड़ों का माल भेजा तथा ब्रिटेन को युद्ध-व्यय चलाने में मदद दी। जो माल हम भेजते थे उसके बदले में हमारे पौंड-पावने इङ्गलैंड में जमा होते रहते थे। इस प्रकार हम इङ्गलैंड के अधमर्ण की जगह अब उसके उत्तमर्ण बन गये। यह स्टर्लिङ्ग-पावने भारत सरकार ने इङ्गलैंड की ओर से जो व्यय किया उसका फल है। इनकी वृद्धि में दो बातें विशेप रूप से उल्लेखनीय हैं :—

१. भारत में भारत सरकार ने ब्रिटेन की ओर से जो युद्ध-सामग्री खरीदी उसका मूल्य (यह सामग्री नियन्त्रित मूल्यों पर खरीदी गई थी), तथा

२. भारत सरकार द्वारा ब्रिटिश सरकार के नाम जो मुद्रा-संचालन के लिए व्यय किया गया वह राशि।

यह सब रकम हमारे रिजर्व बैंक में पौंड-प्रतिभूतियों के रूप में है। इसकी वृद्धि किस प्रकार हुई यह नीचे दिये हुए आँकड़ों से स्पष्ट हो जायगा :—

१९३९–४०	१४२ करोड़ रुपये
१९४०–४१	१४४ ,, ,,
१९४१–४२	२८४ ,, ,,
१९४२–४३	५११ ,, ,,
१९४३–४४	९४९ ,, ,,
१९४४–४५	१३६३ ,, ,,
नवम्बर १९४६	१६२३ ,, ,,

रिजर्व बैंक की जनवरी १६४७ की पत्रिका के अनुसार ये पावने १६२१·३२ करोड़ रुपये के थे जिसमें से ११३५·३२ करोड़ रुपये की स्टर्लिंग-प्रतिभूतियाँ चलन-विभाग में तथा ४८६ करोड़ रुपये की प्रतिभूतियाँ अधिकोषण विभाग में थीं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि नवम्बर १६४६ के बाद पौंड-पावनों की रकम हमारे आयात के भुगतान के कारण कम हो गई, लेकिन १६४७ के अन्त तक हमारे पौंड-पावने फिर से बढ़कर १६२७ करोड़ रुपये के आँके गये थे।

पौंड-पावनों का भुगतान

१६४४ की ब्रेटनवुड्स परिषद में स्वर्गीय लॉर्ड कीन्स ने कहा था कि इन ऋणों का भुगतान पूर्ण न्यायरूप से होना चाहिए। इनका उच्चतम आँकड़ा अप्रेल १६४६ में १७३३ करोड़ रुपये था किन्तु बाद में युद्ध सम्बन्धी व्यय कम होने से तथा खाद्यान्न आदि के आयात के कारण ये कम होते गये और जुलाई १६४७ में केवल १५४७ करोड़ रुपये के रह गये। युद्ध-काल में भारत ने जो नंगे-भूखे रहकर भी अनेक त्याग किये, हमारे उत्पादक यंत्रों की जो घिसावट हुई, उसी का फल हमारे पौंड-पावने थे जो डॉ० हिक्स के मतानुसार हमारे 'अवमूल्यन प्रणीधि' (Depreciation Fund) के रूप में जमा होते रहे तथा जिन पर भारत का पूर्ण न्यायपूर्ण अधिकार है। युद्ध के बाद हमारे औद्योगीकरण के लिए इसका पूर्ण एवं समुचित उपयोग हमको होना चाहिए था किन्तु युद्ध के समय जो भारत की उदारता एवं त्याग का उल्लेख करते थे वे युद्ध समाप्त होते ही उलटी बातें करने लगे और इनकी कमी करने के लिए दलीलें पेश करने लगे। इन लोगों की मुख्य दलीलें ये थीं :—

१. चूँकि भारत की रक्षा के लिए यह व्यय करना पड़ा था इसलिए इस ऋण में कमी की जानी चाहिए।

२. ये पावने युद्ध-सम्बन्धी ऋण समझना चाहिए और जैसे अमेरिका ने उधार-पट्टा ऋण (Lend Lease Debts) से इंगलैंड को मुक्त कर दिया वैसे ही भारत को भी मुक्त कर देना चाहिए।

३. रुपये की दर कृत्रिम रूप से ऊँची रखी गई इसलिए ब्रिटेन भारत का ऋणी हो गया; वैसे तो रुपये का मूल्य स्टर्लिङ्ग में केवल ६ पेंस ही रह गया था; तथा

४. ब्रिटेन की वर्तमान आर्थिक स्थिति तथा ऋण-भुगतान की शक्ति बहुत घट गई है इसलिए भी इन ऋणों में कमी हो जानी चाहिए।

परन्तु जरा सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर इन दलीलों में कोई भी तथ्य नहीं दिखाई देता बल्कि ब्रिटिश राजनीतिज्ञों तथा अर्थनीतिज्ञों की वही परम्परागत साम्राज्यशाही की चालों का स्पष्ट आभास होता है। जहाँ तक पहिली दलील का सम्बन्ध है वह नितान्त निमूल है, यह कोई भी भारतीय जो स्वतन्त्र विचारधारा रखता हो, समझ सकता है। दूसरी दलील जो दी जाती है उसके सम्बन्ध में हम यह कहना चाहते हैं कि कहाँ अमेरिका का आर्थिक स्तर और कहाँ भारत का। जहाँ पर विशेष उद्योग नहीं हैं तथा जो सब बातों के लिए दूसरे देशों पर निर्भर है वह देश अमेरिका की बराबरी कैसे कर सकता है ! खैर, अमेरिका को तो कुछ स्वर्ण भी मिला परन्तु भारत को तो केवल कागज (प्रतिभूतियाँ) ही मिला। क्या कागज की नाव भी पानी में तैर सकती है ? तीसरी दलील जो रुपये के मूल्य के सम्बन्ध में दी जाती है उसे भी देखिये। रुपये का मूल्य कम क्यों हुआ ? इसलिए कि स्टर्लिङ्ग-प्रतिभूतियों के बदले हमारा पत्र-चलन बढ़ता गया। इतना ही नहीं, बल्कि १६४७ में ब्रिटिश कॉमन्स सभा ने जो विशेषज्ञों की एक समिति नियुक्त की थी उसने भी यही निर्णय दिया कि ऊँची विनिमय-दर के कारण ब्रिटेन के ऋण में कोई वृद्धि नहीं हुई। इतना ही नहीं अपितु, भारत में नियन्त्रित मूल्यों पर सामग्री खरीदी जाने के कारण वह बहुत सस्ती ही पड़ी। इससे तीसरी दलील भी निराधार है, यह स्पष्ट है। जहाँ तक ब्रिटिश ऋण-भुगतान की शक्ति एवं आर्थिक शक्ति की दलील है, ब्रिटेन की आय में, लॉर्ड कैटो के मतानुसार, वृद्धि हुई है जो १६४७ के ब्रिटेन के आर्थिक विवरण से स्पष्ट है। विवरण के अनुसार युद्ध-काल में गैस, विद्युत-शक्ति, धान्य, आलू, दूध, के उत्पादन में क्रमशः ३०, ७०, ९०, १०० और ३० प्रतिशत की वृद्धि हुई है। इन सब दलीलों को अनाधारित देखते हुए किस प्रकार भारत जैसा निर्धन एवं आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ देश अपने पौंड-पावनों मे कमी कर सकता है ?

पौंड-पावनों का महत्त्व

यह विदेशों में हमारी सबसे बड़ी पूँजी है जिसका समुचित उपयोग हमारी आर्थिक समस्याओं का सरलता से समाधान कर सकता है। हमारे उद्योगीकरण के लिए इनसे हमको यन्त्र-सामग्री मिल सकती है किन्तु इसकी पूर्ति करने में ब्रिटेन अथवा स्टर्लिंग-क्षेत्र के देश असमर्थ ही नहीं हैं अपितु ब्रिटेन स्वयं ही आर्थिक संकट से मुक्त होने के लिए मार्शल योजना पर अभी तक निर्भर रहा है। इसलिए हमको भी यन्त्रादि की पूर्ति के लिए संयुक्त राष्ट्र अमेरिका पर ही निर्भर रहना पड़ेगा इसलिए वहाँ के चलन मे इन पावनों

का परिवर्तन होना भी आवश्यक है और जब तक यह हमारी आवश्यकता-नुसार नहीं होता, हमारी योजनाएँ कार्यान्वित नहीं हो सकतीं। हमारे पास इतना स्वर्ण भी नहीं है जिसके आधार पर हम विदेशों से आयात कर सकें। इसलिए इन पावनों के भुगतान सम्बन्धी हमारे करार (Agreements) ब्रिटेन से हुए जिसके अनुसार ब्रिटेन हमको सब भुगतान एक साथ नहीं करेगा।

पौंड-पावने सम्बन्धी भारत और ब्रिटेन के समझौते

पहिला समझौता जनवरी १९४७ में हुआ, जिसके अनुसार भारत अपनी आवश्यकताएँ स्टर्लिंग-क्षेत्र से खरीद सकता था तथा उसको यदि दुर्लभ चलन अथवा डॉलर-क्षेत्र से ही वस्तुओं की आवश्यकता हो तो पौंड-पावनों का परिवर्तन डॉलर अथवा अन्य मुद्राओं में कराने का भी उसे अधिकार था। यह समझौता अधिक दिन तक न चल सका क्योंकि इसी बीच ब्रिटेन और अमेरिका के बीच आर्थिक समझौता होने से परिस्थिति बदल गई।

दूसरा समझौता अगस्त १९४७ को हुआ जिसकी अवधि दिसम्बर १९४७ तक एवं क्षेत्र विदेशी विनिमय तक ही सीमित था। इस समझौते के अनुसार स्टर्लिंग-पावने दो खातों में बाँटे गये—एक चल-लेखा (Current Account) तथा दूसरा स्थिर लेखा। चल-खाता ८६·६ करोड़ रुपये से खोला गया जिसमें से केवल ३ करोड़ का उपयोग दुर्लभ चलन की प्राप्ति के लिए हो सकता था तथा नये पौंड-पावने भी इसी में जमा हो सकते थे। शेष १४६६·६ करोड़ रुपये के पावने स्थिर खाते में विदेशी पूँजी, प्रॉविडेण्ट फण्ड, पूर्व-सेवा-वेतन (Pension) आदि के भुगतान के लिए रखे गये। चल-खाते के ८३·६ करोड़ रुपये स्टर्लिंग-क्षेत्र से क्रय के लिए तथा शेष ३ करोड़ रुपये डॉलर-क्षेत्र से क्रय के लिए रखे गये। इस समझौते की अवधि ६ मास तक (३० जून १९४८ तक) और बढ़ा दी गई थी लेकिन भारत का विभाजन हो जाने से स्टर्लिङ्ग-पावनों का विभाजन पाकिस्तानी लेखा और भारतीय लेखा में कर दिया गया तथा पाकिस्तानी चल-खाते में १३·२ करोड़ रुपये के पावने डाले गये जिसका केवल $\frac{1}{3}$ भाग दुर्लभ चलन की प्राप्ति करने के लिए उपलब्ध था।

तीसरा समझौता चेट्टी-क्रिप्स समझौते के नाम से प्रसिद्ध है जो १५ जुलाई १९४८ को प्रकाशित हुआ तथा जिसके अनुसार हमारे कुल पौंड-पावनों के ४८ प्रतिशत का भुगतान चेट्टी की असीम उदारता के कारण

हो चुका तथा पौंड-पावने १५४७ करोड रुपये की जगह केवल ८०० करोड़ रुपये के ही रह गये। इस समझौते की मुख्य शर्तें निम्नलिखित हैं :—

१. भारत में छोड़ा गया फौजी सामान १ अप्रेल १९४७ को भारत ने अपने अधिकार मे ले लिया जिसका पुस्तक-मूल्य (Book Value) ५०० करोड रुपये दिया गया। इस सामान के शोधनार्थ भारत १३३ करोड़ रुपये देगा।

२. संयुक्त राज्य के भारतीय सेवा-निवृत्त व्यक्तियों को पूर्व-सेवा-वेतन देने का भार भारत सरकार पर है जो ६२·५ लाख पौंड अथवा ८ करोड़ रुपया वार्षिक है। इसलिए इस रकम का पूँजीकरण (Capitalisation) करने के लिए इङ्गलैंड को १६७ करोड़ के पौंड-पावने दिये जायँ जिसमे से संयुक्त राज्य उनको पूर्व-सेवा-वेतन का जो शनैः शनैः कम होता जायगा, भुगतान करेगी। यह केवल केन्द्रीय सेवा-निवृत्त व्यक्तियों के लिए ही था।

इसके अतिरिक्त २७ करोड पौंड-पावनों का नियोजन प्रान्तीय सेवा-निवृत्त व्यक्तियों के भुगतान के लिए किया गया है। इस प्रकार १६७ करोड़ तथा २७ करोड़ रुपये की दो वार्षिकी (Annuity) भारत सरकार ने खरीद ली हैं जिन पर हमको केवल १ प्रतिशत ब्याज मिलेगा। (अन्य पावनों पर ८ प्रतिशत ब्याज है।)

३. पिछले समझौते के अनुसार १११ करोड़ रुपयों के पौंड-पावने उठाने का अधिकार भारत को था जिसमे से केवल ४ करोड़ का उपयोग हो सका है अतः शेप १०७ करोड़ उठाने का अधिकार तो है ही, इसके अतिरिक्त अगले तीन वर्षों में ब्रिटेन १०७ करोड़ रुपये के पौंड-पावने चुकाने के लिए तैयार है। इस प्रकार कुल २१४ करोड़ रुपये पावनों से उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त यदि व्यापारिक शेष हमारे अनुकूल रहता है, तो वह भी। ये २१४ करोड़ रुपये हमको आगामी तीन वर्षों के लिए उपलब्ध हैं। इनमें से हम प्रथम वर्ष मे केवल २० करोड़ रुपये के पावनो का दुर्लभ मुद्रा अथवा डॉलर मे परिवर्तन कर सकते हैं। इसके बाद परिस्थिति के अनुसार कितना परिवर्तन दुर्लभ चलन मे हो सकेगा यह निश्चित किया जायगा।

४. इसके अतिरिक्त २०० मिलियन स्टर्लिङ्ग अथवा २६७ करोड़ रुपये के पौंड-पावने चलन-निधि के रूप मे रखे जायेंगे अर्थात् जिनके भुगतान सम्बन्धी प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

आलोचना : इस प्रकार हमारे कुल पौंड-पावने जो इस समझौते के समय १५४७ करोड़ रुपये के थे उनमें से पाकिस्तानी भाग, वार्षिकी, फौजी

सामान का भुगतान तथा २६७ करोड़ चलन-निधि निकालने के बाद केवल ८०० मिलियन पौंड अथवा १०४० करोड़ रुपये के पावने शेष रह जाते हैं अर्थात् हमारे लगभग ५० प्रतिशत पावनों का भुगतान हो गया है। इसके बदले में हमें क्या मिला ? फौजी सामान में कितना ही सामान तो ऐसा था जो मिट्टी के मोल भी न बिकता, परन्तु ब्रिटिश कूटनीति के कारण हमने उसके १३३ करोड़ रुपये दिये क्योंकि चेट्टी साहब उनकी चाल में फँस गये। इसी प्रकार क्या हम सेवा-निवृत्त केन्द्रीय एवं प्रान्तीय अधिकारियों को वेतन नहीं दे सकते थे जो हमने १ प्रतिशत ब्याज वाली वार्षिकी खरीदी जिससे हमको केवल ब्याज के रूप में ७ प्रतिशत की हानि हुई ? दूसरे, उनको 'पूर्व-सेवा-वेतन किस बात के लिए देने को हम बाध्य थे ? क्या इसलिए कि उन्होंने हमें गुलामी की जंजीरों में बाँध रखा था ? क्या इसलिए कि उन्होंने भारत का सदैव अनहित ही किया ? स्वतन्त्र भारत के लिए इनको पूर्व-सेवा-वेतन देना किसी भी प्रकार गौरवास्पद नहीं कहा जा सकता। यदि देना ही था तो ब्रिटिश सरकार देती, जिसकी भलाई के लिए वे यहाँ थे।

इसके बाद चेट्टी साहब ने यह आश्वासन दिया कि अब पौंड-पावनों की कमी के विषय में कोई बातचीत नहीं होगी। किन्तु खेद है कि फिर भी ब्रिटिश धारासभा में चर्चिल ने कहा कि भारत को युद्ध से नष्ट होने से हमने बचाया है, क्या उसके बदले भारत से कुछ लेने का अधिकार हमें नहीं है ? उत्तर में सर स्टेफर्ड क्रिप्स ने कहा कि इस समझौते में ऐसी कोई भी बात नहीं है जिससे हमारा अन्तिम समझौता प्रभावित हो। सारांश यह कि इसमें कमी की जा सकती है।

दुर्लभ मुद्रा के लिए भी हमको प्रथम वर्ष के लिए २० करोड़ रुपये के पौंड-पावने प्राप्त थे और अमेरिका तथा भारत का प्रतिकूल व्यापारिक शेष ३६ करोड़ रुपये था। तब क्यों अधिक पौंड-पावने इस काम के लिए न रखे गये ? इन सब में विशेष खेदजनक बात तो यह है कि इनके भुगतान सम्बन्धी उल्लेख समझौते में कहीं भी नहीं है और न कहीं इसी का उल्लेख है कि पौंड-पावनों के बदले हमको अन्य सामग्री दी जायगी। इससे तात्पर्य तो यही निकलता है कि हम ब्रिटेन के पंजे में इस प्रकार फँसे हैं कि उसकी इच्छा के बिना हम इस विषय में चूँ-चपड़ कर ही नहीं सकते। और यही बात डॉलर के सम्बन्ध में है, क्योंकि जब तक हम अमेरिकन साम्राज्यवादियों की राजकीय तथा आर्थिक नीति नहीं अपनाते तब तक वहाँ से भी हमको निराशा ही दिखाई देती है। इसके लिए यही मार्ग है कि भारत में जो

ब्रिटिश व्यवसाय है उसका राष्ट्रीयकरण करके पौंड-पावनों में भुगतान किया जाय। अगर यह नहीं होता है तो हम इन पावनों का भुगतान केवल इसी प्रकार ब्रिटिश नीति के अनुसार क्रमशः ही प्राप्त कर सकेंगे जो हमारी व्यापारिक तथा आर्थिक प्रगति के लिए किसी भी काम न आयगा।

इसलिए हम आशा करते हैं कि आगामी समझौता जो १९५१ में होगा उसमें हमारे अर्थमन्त्री हमारी आवश्यकताओं की ओर पूर्ण ध्यान देते हुए, पूर्णतः भारतीय आर्थिक प्रगति को लक्ष्य कर पौंड-पावने के भुगतान का समझौता करेंगे। यहाँ पर एक बात ध्यान में रखने योग्य है कि अवमूल्यन के कारण हमारे लन्दन-स्थित पौंड-पावनों का स्वर्ण तथा डॉलर मूल्य ३०·५ प्रतिशत कम हो गया है जिससे हमारी क्रयशक्ति भी कम हो जाती है।

इसके बाद हमारे चल-खाते में से जनवरी १९४९ तक हमारे उपलब्ध पावनों के अतिरिक्त ४३ मिलियन पौंड अथवा ५३ करोड़ रुपये के पौंड-पावने आयात की उदार नीति के कारण हम व्यय कर चुके, जिसके लिए ब्रिटेन से अधिक पौंड-पावनों की माँग की गई परन्तु उसकी पूर्ति नहीं हुई।

चौथा समझौता हमारे अर्थ-मन्त्री श्री जॉन मथाई ने जुलाई १९४९ में किया जिसकी अवधि भी जून १९५१ तक है। इसके अनुसार गत वर्षों में स्थिर लेखे से लिये हुए १०·८ करोड़ के पावनों का अपलेखन किया गया (Written off) तथा इस लेखे से जून १९५१ तक निश्चित रकम के अतिरिक्त पावने नहीं ले सकेंगे, यह भी तय हुआ। दूसरे, स्थिर लेखे से अगले दो वर्षों में अर्थात् १९४९-५० एवं १९५०-५१ के लिए प्रतिवर्ष ६६·६ करोड़ रुपये अथवा ५० मिलियन पौंड के पावने प्रतिवर्ष भारत निकाल सकता है। (पिछले वर्ष के लिए यह मर्यादा ४० मिलियन पौंड अथवा ५३·२ करोड़ रुपये थी।) इसके अतिरिक्त ब्रिटेन ने यह भी स्वीकार किया कि हमारे धान्य आयात के लिए जुलाई १९४९ के पूर्व जो आदेश जा चुके हैं उनके भुगतान के लिए भी स्टर्लिंग-पावने दिये जायँगे।

इस प्रकार यदि निश्चित मर्यादा तक ही हम समझौते के अनुसार व्यय करेंगे तो जून १९५१ तक हमारे केवल ४८० करोड़ रुपये के पौंड-पावने बच रहेंगे।

इसके विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे पौंड-पावने खाद्य वस्तुओं तथा उपभोग-वस्तुओं के आयात के काम ही आये और उनका हमारे राष्ट्र की आर्थिक शक्ति बढ़ाने के लिए, अथवा शरणार्थी पुनर्निवास योजनाओं के लिए

कोई भी उपयोग न हो सका। इसलिए यदि अब भी सावधान होकर इनका व्यय अच्छी प्रकार से किया गया तो हमारी आर्थिक दशा में सुधार होने की आशा है। अगला समझौता जून १६५१ के बाद होगा, जब इस समझौते की अवधि पूर्ण हो जाती है।

प्रश्न

१. पौंड-पावने क्या हैं एवं किस प्रकार एकत्रित हुए? इनका भारत की आर्थिक दशा पर क्या प्रभाव हुआ?

२. पौंड-पावनों के भुगतान सम्बन्धी विभिन्न समझौतों का उल्लेख करते हुए बताइये कि उनसे भारत को क्या लाभ हुआ अथवा क्या हानि हुई।

३. पौंड-पावनों के पिछले समझौतों के विश्लेषण के आधार पर आगामी समझौते का आधार क्या हो, बताइये।

अध्याय १६

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-प्रणीवि तथा अन्तर्राष्ट्रीय अधिकोष

युद्धोत्तर काल में युद्ध-कालीन अपरिमित मुद्रा-प्रसार के कारण समस्त देशों की चलन-व्यवस्था बिगड चुकी थी जिसकी वजह से विदेशी विनिमय में अस्थिरता आ गई थी तथा आन्तरिक मूल्य भी बढ़ गये थे। इस कारण विदेशी व्यापार में अनेक असुविधाएँ आ गई थीं तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रगति होना विनिमय-स्थैर्य के अभाव में असम्भव हो गया था। इसी प्रकार कीमतों के अत्यधिक बढ़ जाने से देशी व्यापार का संचालन भी ठीक तरह नहीं हो रहा था। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रगति के लिए तथा विनिमय की प्रगति के लिए तथा विनिमय-स्थैर्य के लिए अनेक योजनाएँ अमेरिका, ब्रिटेन आदि यूरोपीय देशों ने प्रस्तुत कीं जिन योजनाओं के आधार पर संयुक्त राष्ट्र संघ की मौद्रिक तथा आर्थिक परिषद ने १९४४ में एक योजना स्वीकृत की, जो ब्रटेनवुड्स समझौते (Brettenwoods Agreement) के नाम से प्रसिद्ध है। इस योजना के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-प्रणीवि तथा अन्तर्राष्ट्रीय अधिकोष की स्थापना की जानी थी जिनका संक्षेप में उल्लेख करना अनिवार्य है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-प्रणीवि

प्रणीवि का मुख्य हेतु : १. सभासद राष्ट्रों की मुद्राओं का विनिमय-मूल्य स्थिर रखना तथा सभासद देशों की मुद्रा का मूल्य भी स्थिर करना।

२. स्पर्धात्मक विनिमय-अवमूल्यन को दूर करना।

३. सभासदों के चालू व्यवहारों के भुगतान के लिए बहुपाक्षिक भुगतान पद्धति की स्थापना में सहायक होना।

४. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रगति के लिए बाधक विनिमय-नियन्त्रणों को हटाना। इसके लिए प्रणीवि अपने सभासदों को दूसरे राष्ट्रों की मुद्राऐं उधार देती है अथवा बेचती है जिससे वे अपना व्यापार-सन्तुलन कर सकें तथा

उन्हें विदेशी व्यापार में कठिनाइयों का सामना न करना पड़े। फिर भी अपने देशवासियों की पूँजी का आयात-निर्यात रोकने के लिए आवश्यक विनिमय-प्रतिबन्ध लगाने के लिए सभासद देशों को स्वतन्त्रता है।

प्रणीवि की पूँजी तथा सभासदत्व

प्रणीवि की कुल पूँजी १०,००० मिलियन डॉलर है और प्रत्येक देश का अभ्यंश (Quota) निश्चित कर दिया गया है जिसमें अमेरिका का २७५० मिलियन डॉलर, रूस का १२०० मिलियन डॉलर, चीन का ५५० मिलियन डॉलर, फ्रान्स का ४५० मिलियन डॉलर, भारत का ४०० मिलियन डॉलर है तथा इङ्गलैंड का १३५० मिलियन डॉलर है। रूस ने इस प्रणीवि की सदस्यता स्वीकार नहीं की है। अन्य राष्ट्रों के अभ्यंश इस प्रकार हैं:— कनाडा ३०० मिलियन, आस्ट्रेलिया २०० मिलियन, नीदरलैंड्स २७५ मिलियन, दक्षिणी अफ्रीका १०० मिलियन, ईरान २५ मिलियन, ग्रीस ४० मिलियन डॉलर। भारत ने दिसम्बर १९४५ में इसको मान्यता देकर सदस्य बनना स्वीकार किया तथा अपने अभ्यंश का १० प्रतिशत स्वर्ण तथा डॉलर में दे दिया और शेष रुपयों में परिवर्तनशील प्रतिज्ञा-अर्थपत्रों में दिया है जिस पर ब्याज नहीं दिया जाता।

प्रत्येक देश को अपना अभ्यंश स्वर्ण में तथा देशी मुद्रा में देना पड़ता है। स्वर्ण या तो अभ्यंश के २५ प्रतिशत अथवा देश के कुल स्वर्ण एवं डॉलर संचय में से प्रत्येक के १० प्रतिशत में (इन दोनों में जो कम हो) तथा शेष देशी मुद्रा में देना पड़ता है। भारत इस प्रणीवि का पाँचवाँ सब से बड़ा सदस्य है इसलिए वह इस प्रणीवि पर अपना एक शासकीय निर्देशक (Executive Director) नियुक्त करता है। आजकल श्री चिन्तामणि देशमुख इसके भारतीय गवर्नर हैं। सभासद राष्ट्रों को अपनी मुद्रा का स्वर्ण-मूल्य अथवा १ जुलाई १९४४ को जो संयुक्त राष्ट्र का डॉलर था उसमें मूल्य निश्चित करना था। इस प्रकार भारत ने अपने रुपये का स्वर्ण-मूल्य ०·२६८६०१ ग्राम विशुद्ध स्वर्ण निश्चित किया था तथा उसका मूल्य डॉलर में ३०·२५ सेंट हैं। रुपये के अवमूल्यन से डॉलर मूल्य अब केवल २१ सेंट रह गया है तथा स्वर्ण-मूल्य ०·१८६६२१ ग्राम है।

प्रणीवि के नियमानुसार एक देश दूसरे देश की मुद्रा खरीद सकता है लेकिन अगर किसी देश विशेष की मुद्रा की अत्यधिक माँग हो, जिससे प्रणीवि की उस मुद्रा का कोष खतम होने की सम्भावना हो तो उस देश की

मुद्रा उधार ली जायगी अथवा प्रणीवि स्वर्ण के बदले में खरीदेगी ; लेकिन फिर भी माँग उसी प्रकार रहे तो उस दशा में उस देश की मुद्रा का विभाजन सदस्यों की आवश्यकतानुसार तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक परिस्थिति के अनुसार किया जायगा।

मार्च १९४६ में प्रणीवि के गवर्नरों की पहिली सभा सैवाना (जॉर्जिया) में हुई जिसमें प्रणीवि की कार्य-प्रणाली पर विचार किया गया। भारत इस प्रणीवि का सदस्य होने से एक निर्देशक कार्यकारिणी पर नियुक्त कर सकता है। प्रणीवि के ३४ सदस्य दिसम्बर १९४६ तक बन चुके थे जिनमें से २८ देशों ने अपना अभ्यंश चुका दिया था तथा ५ देशों का अभ्यंश आना था। इस प्रकार प्रणीवि के पास कुल मिलाकर १३४४ मिलियन डॉलर मूल्य का स्वर्ण, २०६३ मिलियन अमरीकी डॉलर तथा ३१२८ मिलियिन डॉलर मूल्य की अन्य मुद्राएँ आईं। १ मार्च १९४७ से प्रणीवि ने अपने विनिमय-व्यवहार की कार्यवाही प्रारम्भ की।

प्रणीवि के नियमानुसार कोई भी सदस्य अपने चलन से अधिक विदेशी मुद्रा उधार नहीं ले सकता किन्तु अगर वह अपनी मुद्रा के बदले विदेशी मुद्रा खरीदता है तो उसकी मुद्रा उसके अभ्यंश के ¼ से अधिक एक वर्ष में नहीं होनी चाहिए और न ही यह वृद्धि इस प्रकार हो कि उसके अभ्यंश से दूनी हो जाय। इस प्रकार प्रणीवि ने अपना कार्य प्रारम्भ किया। ३० जून १९४७ तक ३९ देशों ने इसकी सदस्यता स्वीकार करली थी तथा ३० जून १९४७ को ५ देश और सदस्य बने तथा २ देशों ने सदस्यता के लिए आवेदन-पत्र भेजे एवं मार्च १९४८ को कुल सदस्य-संख्या ४६ हो गई। ३१ मार्च १९४८ को कुल प्रार्थित-पूँजी =८२६३·१० मिलियन डॉलर थी तथा प्रणीवि में ७९६१ मिलियन डॉलर आ गये थे। मार्च १९४८ तक प्रणीवि का कार्य विदेशी विनिमय के विक्रय का ही रहा जिससे कुल ५९४·१ मिलियन डॉलर निम्नलिखित देशों को बेचे गये :—

संयुक्तराज्य (U. K.)	३००	मिलियन	डॉलर
नीदरलैंड्स	१२५	,,	,,
फ्रान्स	६२·५	,,	,,
बेलजियम	३३·०	,,	,,

जून १९४८ तक की अवधि में भारत की भी डॉलर आवश्यकताएँ बढ़ती गई जिससे उसकी डॉलर आय से व्यय बढ़ता गया जो ४० मिलियन डॉलर से भी (जो इण्डो-ब्रिटिश समझौते के अनुसार भारत को उपलब्ध थे)

अधिक हो जायेगा, यह आँका गया इसलिए भारत ने भी मार्च १९४८ में डॉलर के लिए प्रणीवि से प्रार्थना की जिसकी स्वीकृति के बाद भारत ने २८ मिलियन डॉलर खरीदा। (इसका मूल्य ३½ करोड़ रुपये दिया।)

कोमिल गट (Comille Gutt) जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-प्रणीवि के अध्यक्ष थे, उनके अनुसार १९४९ में कुल १०१ मिलियन डॉलर ऑस्ट्रेलिया, ब्रेजील, मिस्र, इथिओपिया, भारत और युगोस्लाविया, इन ६ देशों को दिये गये हैं।[1] इसके अतिरिक्त बेलजियम, कोस्टारिका तथा निकारागुआ इन तीन देशों ने डॉलर के बदले अपनी मुद्रा का क्रय किया तथा प्रणीवि के डॉलर-निधि को पुनर्गठित करने में सहयोग दिया। इस समय प्रणीवि की सदस्य संख्या ४८ है तथा इनमें से ४४ राष्ट्रों को प्रणीवि के अधिकारियों ने भेंट दी तथा तान्त्रिक सहायता कार्यक्रम (Technical Assistance Programme) के अन्तर्गत निम्नलिखित विषयों पर सक्रिय सहायता दी है :—

१. आर्थिक, सांख्यिकी[2] सम्बन्धी तथा रिपोर्ट की पद्धति में सुधार;
२. विनिमय-दर में परिवर्तन तथा स्थापन,
३. विनिमय-नियन्त्रण पद्धति में संशोधन (Modifications),
४. आय-व्यय-पत्रक के नियन्त्रण सम्बन्धी सुधार,
५. नवीन तथा अद्यावत् मौद्रिक तथा अधिकोषण विधान, तथा
६ शोधन-शेष (Balance of Payments) तथा मुद्रा-स्फीति की समस्याओं को हल करने के साधन।

इस कार्यक्रम के अन्तर्गत प्रणीवि ने दो देशों में केन्द्रीय अधिकोषण तथा कृषि-अधिकोषण पद्धति के निर्माण में तथा एक देश के अधिकोष के अध्यक्ष पद के लिए प्रणीवि के कार्यालय से सुयोग्य व्यक्ति देने में सहायता की। इस प्रकार प्रणीवि ने विकास योजनाओं में तान्त्रिक सहायता दी है तथा आगे भी देगी और भविष्य में यह प्रणीवि का एक महत्वपूर्ण कार्यक्रम का भाग रहेगा।

प्रणीवि की स्वर्ण-नीति : प्रणीवि ने सदस्य राष्ट्रों के सहयोग से स्वर्ण को मौद्रिक जगत में फिर से महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। सदस्य राष्ट्रों ने स्वर्ण की खरीद-बिक्री न करने का आश्वासन दिया है किन्तु अगर यह क्रय-विक्रय होता है तो ३५ डॉलर प्रति औंस की दर से होगा तथा इससे अधिक

---

[1] *'Commerce' 1950 P. 178.* [2] *Statistical.*

दर पर अन्तर्राष्ट्रीय विपणि में स्वर्ण का क्रय-विक्रय नहीं होगा जिसकी वजह से स्वर्ण-उत्पादक देशों को भी इसी दर से स्वर्ण का क्रय-विक्रय करना पड़ेगा ।

दक्षिणी अफ्रीका ने स्वर्ण को विपणि-मूल्य अथवा प्रणीवि से निश्चित मूल्य से अधिक दर पर बेचने के लिए प्रयत्न किया था किन्तु प्रणीवि की कार्यकारिणी (Executive Board of the Fund) ने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया । दूसरा प्रयत्न १९५० की प्रणीवि परिषद में जो अभी हाल ही में पैरिस में हुई थी, दक्षिणी अफ्रीका ने फिर इसी आशय से किया तथा उसे भी ठुकरा दिया गया । इस प्रकार प्रणीवि की स्वर्ण-सम्बन्धी कड़ी नीति होने के कारण तथा सभासद राष्ट्रों के सहयोग से स्वर्ण-नीति प्रभावशाली रूप से कार्य कर रही है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक जगत में स्वर्ण को फिर से सिंहासनारूढ़ किया गया है ।[1]

१९४९ से पाकिस्तान तथा लंका भी इस प्रणीवि के सदस्य बन चुके हैं, जिससे सदस्य संख्या ५० हो गई है ।

भारत और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-प्रणीवि : जैसा कि ऊपर बताया गया, भारत ने इस प्रणीवि की सदस्यता स्वीकार कर ली जिसके कारण हमारी मौद्रिक पद्धति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये गये, जिनको कार्यरूप में लाने के लिए रिजर्व बैंक विधान में संशोधन किया गया ।

यह संशोधन विधान द्वारा १९४७ में किया गया जिसके अनुसार भारतीय चलन की अन्य सदस्य देशों के चलन से बहुपाक्षिक परिवर्तनशीलता साध्य करने के लिए रिजर्व बैंक अपने निधि में स्टर्लिङ्ग के साथ अन्य देशों का चलन भी रखेगा एवं इनका क्रय-विक्रय प्रणीवि की निश्चित दरों पर किया जायगा । दूसरे, प्रणीवि की सदस्यता के साथ हमारा स्टर्लिङ्ग का नाता भी टूट जाता है इसलिए मूल विधान की धारा ४०, ४१ को रद्द किया गया तथा रिजर्व बैंक को केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रणीवि से निश्चित दरों पर विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करने का भार सौंपा गया ; लेकिन विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय २ लाख रुपये से कम मुद्राओं का नहीं होगा । तीसरे, स्टर्लिङ्ग में रुपये का अधिकतम एवं न्यूनतम मूल्य १८ १/६४ पेंस तथा १७ ५५/६४ पेंस निश्चित किया गया है ।

चौथे, विदेशी मुद्राओं में भारतीय रुपये की अधिकतम एवं न्यूनतम दर

[1] *For details see 'Commerce' 30th Sept., 1950. P. 370.*

में प्रणीवि की निश्चित दरों के आधार पर तत्क्षण व्यवहारों (Spot Transactions) में १ प्रतिशत से अधिक अन्तर न होगा। पाँचवें, हमारे विदेशी विनिमय की वर्तमान स्थिति में नियन्त्रित करने के लिए एवं उसका अधिकाधिक उपयोग करने की दृष्टि से १९४७ के विदेशी-विनिमय-नियमन विधान (Foreign Exchange Regulation Act of 1947) लागू किया गया है जिसके अनुसार भारत तथा स्टर्लिङ्ग क्षेत्रों मे विदेशी विनिमय का हस्तान्तरण रिजर्व बैंक की पूर्व अनुमति के बिना नही हो सकता। छठे, १९४७ के संशोधन विधान के अनुसार रिजर्व बैंक किसी भी देश की सरकार की प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय कर सकता है, लेकिन वह देश प्रणीवि का सदस्य होना चाहिए।

स्टर्लिङ्ग में रुपये का विनिमय-मूल्य आज भी १ शि० ६ पेंस है लेकिन हमारी आर्थिक एवं मौद्रिक परिस्थिति के अनुसार इसे परिवर्तन करने का अधिकार हमारी सरकार को है; शायद यह दर-परिवर्तन तब तक न हो जब तक कि येनकेनप्रकारेण हमारे पौंड-पावनों का पूर्ण भुगतान नहीं हो जाता।

प्रणीवि से कोई भी सदस्य लिखित आवेदन-पत्र देकर सदस्यता छोड़ सकता है अथवा प्रणीवि के नियमों का पूर्णरूपेण पालन न होने से अथवा न करने के कारण, प्रणीवि को यह अधिकार है कि वह उस देश को सदस्यता से वंचित कर दे।

अन्तर्राष्ट्रीय अधिकोष

ब्रेटनवुड्स समझौते के अनुसार इस अधिकोष की स्थापना भी आर्थिक विकास एवं पुनर्सङ्गठन की दृष्टि से की गई है। इस अधिकोष की अधिकृत पूँजी १०,००० मिलियन डॉलर है जिसका अभिदान (Subscription) भी सदस्य राष्ट्रों द्वारा उनके अभ्यंश (Quota) के अनुसार होगा तथा इसकी पद्धति भी अन्तर्राष्ट्रीय प्रणीवि के समान ही होगी। इस अधिकोष का मुख्य हेतु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रगति करना है तथा इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय ऋण द्वारा विनियोग क्रियाओं में स्थिरता लाई जायगी। इस अन्तर्राष्ट्रीय ऋण एव विनियोग में स्थिरता लाने के लिए अधिकोष वैयक्तिक (Private) ऋणों को तथा विनियोगों की प्रत्याभूति (गारण्टी, देगा जिससे युद्धोत्तर (Post-war) विकास एवं पुनर्निर्माण योजनाओं में प्रगति होगी।

पूँजी तथा अधिकोष : जिन सदस्यों ने ३१ दिसम्बर १९४५ को अन्त-

राष्ट्रीय प्रणीवि की सदस्यता स्वीकार करली है वे ही देश इसके भी मूल सभासद होंगे। दूसरे देश भी अधिकोष की शर्तों के अनुसार सभासद हो सकते हैं। जो सदस्य, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-प्रणीवि का सभासदत्व त्याग देता है वह इसके सभासदत्व का भी त्याग करता हुआ समझा जायगा। इसी प्रकार जो सभासद अधिकोष की शर्तों का पूर्ण रूप से पालन नहीं करता वह सभासद नहीं रहेगा। लेकिन कोई सभासद अन्तर्राष्ट्रीय प्रणीवि का सभासदत्व त्याग देने पर भी ७५ प्रतिशत मत से अधिकोष का सभासद रह सकता है। लिखित सूचना देने से कोई भी इस अधिकोष का सभासदत्व त्याग सकता है।

अधिकोष की अधिकृत पूँजी १०,००० मिलियन डॉलर, १ लाख डॉलर के १,००,००० अंशों में विभक्त है। मूल सभासदों का अभ्यंश अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-प्रणीवि की तरह निश्चित है अर्थात संयुक्त राष्ट्र ३१५० मिलियन डॉलर, संयुक्त राज्य १३०० मिलियन डालर, रूस १२०० मिलियन डॉलर, चीन ६०० मिलियन डॉलर, फ्रान्स ४५० मिलियन डालर तथा भारत ४०० मिलियन डॉलर। इन सभासदों में से रूस ने इसकी सदस्यता स्वीकार नहीं की। अधिकोष की पूँजी ७५ प्रतिशत, ७५ प्रतिशत सभासदों के मताधिक्य से, बढ़ाई जा सकती है। प्रार्थिक पूँजी का २० प्रतिशत भाग सभासदों को देना पड़ेगा जिसमें से $\frac{2}{10}$ भाग अमरीकी डॉलर अथवा स्वर्ण में तथा $\frac{1}{10}$ भाग सभासद अपनी मुद्रा में देगा। शेष प्रार्थित पूँजी याचित होने पर, (When called up) स्वर्ण में, अमरीकी डालर में, अथवा जिस चलन-कार्य के लिए पूँजी याचित हुई है उस चलन में, देनी पड़ेगी।

अधिकोष का कार्यभार गवर्नरों की समिति द्वारा चलाया जायगा जिनको सलाह देने के लिए एक सलाहकार समिति बनाई जायगी जिसमें औद्योगिक, आर्थिक, कृषि सम्बन्धी, अधिकोषण आदि विषयक वैज्ञानिकों का प्रतिनिधित्व होगा। यह सलाहकार समिति अधिकोष की सामान्य नीति तथा ऋण-नीति पर सलाह देगी। अधिकोष की परिदत्त पूँजी (Paid-up Capital) ऋण आदि देने के कार्य में तथा अन्य पूँजी अधिकोष द्वारा प्रत्याभूतित (Guaranteed) ऋणों के अभिगोपन (Underwriting) के लिए उपयोग में ली जायगी। याचित पूँजी ऋण देने के लिए अधिकोष को उपलब्ध रहेगी।

ऋण-नीति : अधिकोष, अपने सभासद देश को किसी भी औद्योगिक अथवा विकास कार्य के लिए ऋण अथवा ऋण की प्रत्याभूति देगा, लेकिन

इसके पूर्व वह कार्य ठोस है इसकी जाँच वह अपनी सलाहकार समिति तथा ऋण-समिति द्वारा करा लेगा। यह ऋण अधिकोष तभी देगा जब उधार लेने वाले देश को अन्य किसी देश से अथवा व्यक्ति से पूँजी नहीं मिल रही हो एवं ऋण जिस कार्य के लिए दिया जा रहा है उसी कार्य में उसका उपयोग किया जायगा।

अधिकोष या तो अपनी पूँजी में से ऋण देगा अथवा अन्य किसी देश से अपनी प्रत्याभूति पर ऋण देगा अथवा वैयक्तिक विनियोगकर्त्ताओं से अपनी प्रत्याभूति पर ऋण दिलवायगा। इस प्रकार अधिकोष की ऋण देने सम्बन्धी चार शर्तें हैं :—

१. अगर ऋणकर्त्ता को कहीं से ऋण नहीं मिल रहा है ;

२. अगर सदस्य देश के किसी उद्योग को अथवा किसी प्रान्त को ऋण दिया जारहा है तो सदस्य देश की सरकार को उस ऋण की प्रत्याभूति देनी होगी ;

३. अगर परीक्षण के बाद यह प्रमाणित होता है कि ऋणकर्त्ता उस ऋण का भुगतान करने की परिस्थिति में है; तथा

४. ऋणकर्त्ता अधिकोष अपनी असमर्थता प्रमाणित करे कि उसे अन्तर्राष्ट्रीय अधिकोष की प्रत्याभूति के बिना ऋण नहीं मिल रहा है।

अधिकोष अपने प्रत्यक्ष ऋण पर ब्याज (जो दर निश्चित की जाय) लेगा तथा उसके भुगतान सम्बन्धी शर्तें भी अधिकोष के निर्णय पर ही निर्भर रहेंगी। जिन ऋणों की प्रत्याभूति अधिकोष द्वारा दी जाती है उन ऋणों पर प्रथम दस वर्षों के लिए अधिकोष १ प्रतिशत से १½ प्रतिशत वर्तन (Commission) लेगा तथा इस वर्तन को एक अलग प्रणीवि (Fund) में जमा करेगा जिससे किसी राष्ट्र से ऋणों का भुगतान न होने पर उसका उपयोग हो सके। ऋण कार्य की पूर्ति के लिए अथवा अन्य कार्यों के लिए अधिकोष को अपनी प्रतिभूतियाँ (Securities) बेचने का अधिकार है।

कार्य : अधिकोष ने भी अपना कार्यारम्भ कर दिया है। अधिकोष की कुल प्रार्थित पूँजी १,९९६,६८९,००० डॉलर हैं जिसमें से परिदत्त पूँजी (Paid-up Capital) ७२७,०७९,००० डॉलर है तथा शेष सभासद देशों के चलन में है। आजकल विशेषतः डॉलर की माँग अधिक होने के कारण अधिकोष की ऋण-क्षमता केवल ७२५ मिलियन डॉलर तक सीमितही

है जिसकी वृद्धि अमरीकी मुद्रा-विपणि में अधिकोष की प्रतिभूतियों की बिक्री से बढ़ाई जा सकती है जिसके लिए अधिकोष ने १५ जुलाई १६४७ को अपनी प्रतिभूतियाँ बेचीं तथा डालर प्राप्त किये। ये प्रतिभूतियाँ दो प्रकार की हैं :—

(क) २½ प्रतिशत ब्याज देने वाली १० वर्ष अवधि की
(ख) ३ प्रतिशत ब्याज देने वाली २५ वर्ष अवधि की } १००मि. डालर

ये प्रतिभूतियाँ डॉलर में ही बेची जाने वाली होने के कारण अमरीकी विपणि में ही बेची जा सकती हैं जिसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक परिस्थिति में स्थिरता आना आवश्यक है। क्रमशः स्थिरता आने के बाद अमरीकी जनता इनको अवश्य ही खरीदेगी। अधिकोष की परिदत्त पूँजी से अमरीकी भाग तथा बेलजियन फ्रांक (बेलजियम की मुद्रा) का २ प्रतिशत भाग ऋण कार्यों के लिए उपलब्ध है। अन्य राष्ट्रों ने परिदत्त पूँजी के अपने भाग को ऋण कार्यों के उपयोग के लिए अभी तक अनुमति नहीं दी है।[1]

दिसम्बर १६४८ तक कुल १६ राष्ट्रों ने ऋण के लिए आवेदन पत्र भेजे जिसमें से फ्रान्स को २५० मिलियन डॉलर, नीदरलैंड्स को १६५ मिलियन डॉलर, मैक्सिको को (दो ऋण मिलाकर) ३५ मिलियन डॉलर तथा फिलिप्पाइन्स को १५ मिलियन डालर के ऋण दिये गये हैं। इन ऋणों में से मैक्सिको तथा फिलिप्पाइन्स को जलविद्युत विदोहन (Hydro-electric Generation) के लिए दिये गये थे। इसके बाद ३० अक्तूबर १६४६ तक अधिकोष ने ६ सदस्य देशों को ऋण दिये हैं जो निम्नलिखित हैं :—

नीदरलैंड्स २७ मि. डॉलर
(पहिले १६५ मि. डालर मिलाकर कुल २२२ मि. डालर)

डेन्मार्क	४० मि. ,,
लक्जेम्बर्ग	१२ मि. ,,
बेलजियम	१६ मि. ,,
फिनलैंड	१४·८ मि. ,,
चिली	१६·० मि. ,,
ब्रेजील	७५·० मि. ,,
कोलम्बिया	५·० मि. ,,
भारत	४४·० मि. ,,
यूगोस्लाविया	२·७ मि. ,,

1 'Times of India Year Book 1949'

इस प्रकार अधिकोष ने ३० अक्टूबर १९४९ तक कुल ७२१ मि. डालर ऋण दिये हैं। इस बीच अधिकोष की प्रार्थित पूँजी भी १९४७ में ८२४५ मि. डालर हो गई थी। श्री० यूजिन ब्लैक (Eugine Black) ने जो इस अधिकोष के अध्यक्ष हैं, इस वर्ष गत कार्य का समालोचन करते समय ऋण-कर्ता राष्ट्रों के भौतिक सुधार का श्रेय इस अधिकोष को दिया। इस समालोचन के अनुसार अधिकोष ने १३ सदस्य राष्ट्रों को १९४७ से इस वर्ष तक कुल ७४४ मि. डालर का ऋण दिया, जिसमें भारतवर्ष को अप्रेल १९५० में दिया गया १८·५ मि. डालर का तीसरा ऋण सम्मिलित नहीं है जिसको मिलाकर कुल ऋण ७६२·५ मि. डॉलर होता है।

भारतवर्ष तथा अन्तर्राष्ट्रीय अधिकोष : इस अधिकोष से भारतवर्ष ने अभी तक तीन ऋण लिये हैं जिनका विवरण निम्नलिखित है :—

१. पहिला ऋण भारत ने ३४ मिलियन डालर का संयुक्त राष्ट्र तथा कनाडा से रेल्वे-इंजन (Locomotives) खरीदने के लिए लिया था। यह ऋण १५ वर्ष की अवधि के लिए है तथा ब्याज की दर ३ प्रतिशत प्रतिवर्ष है। इसके अतिरिक्त १ प्रतिशत का अधिकोष वर्तन भी भारत को देना पड़ेगा। इस ऋण का भुगतान 'अगस्त १९५० से भारत को करना होगा।

इस ऋण में से १७ मिलियन डालर का क्रय कैनाडा से तथा १० मिलियन डालर का क्रय अमेरिका से किया जायगा तथा शेष ८ मिलियन डालर निधि (Reserve) में सम्भाव्य खरीद के लिए रखा जायगा। यह हर्ष की बात है कि भारत ने इस ऋण का मितव्ययिता से उपयोग कर १·२ मिलियन डालर का ऋण रद्द करा लिया है। इस प्रकार अब इस ऋण के ब्याज एवं वर्तन के अतिरिक्त कुल ३२·८ मिलियन डालर भारत को भुगतान करना है। (यह तीसरा ऋण है जिसका कुछ भाग रद्द कराया गया है, पहले दो ऋणों में से कुछ भाग को लक्जेम्बर्ग तथा नीदरलैंड्स ने रद्द कराया है।) यह ऋण १८ अगस्त १९४९ को मिला।

२. दूसरा ऋण २९ सितम्बर १९४९ को कृषि विकास एवं सुधार के लिए स्वीकृत हुआ है। इस ऋण की अवधि ७ वर्ष तथा ब्याज एवं अधिकोष वर्तन क्रमशः २½ प्रतिशत और १ प्रतिशत है। इसका भुगतान १ जून १९५२ से प्रारम्भ होगा। इस ऋण से भारत अमरीका से ट्रेक्टर्स खरीदेगा जिससे काँस लगी हुई बंजर भूमि को कृषि कार्यों के लिए उपयोग में लाया जायगा। इस प्रकार की भूमि ३० लाख एकड़ ८ वर्षों में कृषि के

उपयोग में लाई जायगी जिससे हमारे विदेशी विनिमय में, जिसका गत तीन वर्षों से बहुत बड़ा भाग अन्न-आयात में व्यय हो रहा है, बचत होगी। इस ऋण में से ०·८७ मिलियन डालर के ३४५ ट्रैक्टर तथा ०·१२ मिलियन डालर के जंगल साफ करने वाले बुलडोजर, ट्रैक्टर आदि सामान अमेरीका से खरीदा जायगा।

२. तीसरा ऋण १५ अप्रेल १९५० को १२०५ मिलियन डालर का दामोदर घाटी-योजना के लिए स्वीकृत हुआ है। इस योजना के अन्तर्गत "बोकारो कोनार थर्मल स्टेशन" के बनाने के लिए थर्मल प्लाण्ट (Thermal Plant) अमेरिका से खरीदा जायगा। इस ऋण की अवधि २० वर्ष तथा ब्याज एवं अधिकोष वर्तन ३ प्रतिशत एवं १ प्रतिशत प्रतिवर्ष है। ऋण का भुगतान १ अप्रेल १९५५ से शुरू होगा।

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय अधिकोष से भारत ने कुल ६२·५ मिलियन डालर का ऋण दिया जिसमें से १·२ मिलियन डालर रद्द करा दिया तथा भारत को कुल ६०·३ मिलियन डालर का भुगतान करना है। यह ऋण हमारी औद्योगिक एवं विकास योजनाओं की आवश्यकताओं को देखते हुए बहुत ही कम है। उपर्युक्त ऋणों के देखते हुए भारत ही एशिया में एकमेव देश है जिसको अन्तर्राष्ट्रीय अधिकोष से ऋण मिल सका है। युजिन ब्लैक के मतानुसार ऋण देने के लिए किसी भी राष्ट्र को आर्थिक कसौटी पर रखा जाता है तथा अविकसित एवं पिछड़े हुए राष्ट्रों के आर्थिक विकास के लिए अधिकोष को अनेक कठिनाइयों का सामना पड़ता है। फिर भी विश्वशान्ति की दृष्टि से इन देशों का आर्थिक विकास होना समय की अत्यावश्यक माँग है और जब तक किसी देश में लोहे तथा इस्पात और कोयले के उद्योग की प्रगति नहीं होती तब तक वह देश अपनी प्रगति नहीं कर सकता। इसके विपरीत अधिकोष के आर्थिक सलाहकारों का मत है कि किसी भी देश की विकास योजनाएँ देश के नैसर्गिक एवं मानवी स्रोत (Sources) पर आधारित होना चाहिए तथा इन योजनाओं के लिए देश से अथवा विदेश से पूँजी भी इस प्रकार आनी चाहिए जिससे न तो मुद्रा-स्फीति हो और न भुगतान-शेष ही प्रभावित हो। किन्तु अगर बड़ी-बड़ी आधारभूत योजनाओं की अपेक्षा केवल कृषि योजनाओं अथवा अन्य उद्योगों की योजनाओं को ही प्राधान्य दिया जाता है तो वह विकास अधूरा ही रहेगा जब कि प्रत्येक उन्नत राष्ट्र में स्वयंपूर्णता (Self-sufficiency) पर अधिकाधिक जोर दिया जा रहा है। देखना है कि भारत के चौथे ऋण का आवेदनपत्र स्वीकृत

होता है अथवा नहीं क्योंकि यह ऋण दो बड़ी-बड़ी इस्पात (Steel) की निर्माण-योजनाओं के लिए माँगा गया है तथा इसकी रकम लगभग २५० मिलियन डालर अथवा १०० करोड़ रुपये है।

दूसरे, अधिकोष की ब्याज की दर बहुत ही अधिक है क्योंकि अधिकोष अपनी प्रतिभूतियों पर जो २५ वर्ष अवधि की हैं, उन पर ३% प्रतिवर्ष तथा जो १० वर्ष अवधि की हैं उन पर २३/४ प्रतिशत प्रतिवर्ष ब्याज देता है। इस ३ प्रतिशत प्रतिवर्ष ब्याज के अतिरिक्त अधिकोष १ प्रतिशत प्रतिवर्ष वर्तन भी लेता है, जो अधिकोष के अनुसार ऋण देने में जो व्यय होता है उसके लिए लिया जाता है, फिर भी इतना अधिक ऋणों के लिए देना भारत जैसे निर्धन एवं अविकसित देश पर प्रभार-रूप है। इस सम्बन्ध में हमारे पूर्व अर्थ-सचिव श्री जॉन मथाई के अनुसार भारत तथा अन्य एशियाई देशों को अन्तर्राष्ट्रीय अधिकोष पर निर्भर न रहते हुए, उन्हें सस्ती दर पर पूँजी प्राप्त करने के लिए अन्य साधनों का एवं मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए। यह मान भी लिया जाय कि अधिकोष की ऋण नीति दृढ़ है फिर भी अधिकोष को चाहिए कि वह अपनी शर्तें कुछ उदारता की रखे तथा अपने कार्यक्षेत्र का विस्तार करे।

तीसरे, अभी तक जो ऋण दिये गये हैं उनके विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि एशियाई देशों (में भारत) को कुल ऋण का केवल ६ प्रतिशत भाग मिला है जब कि यूरोपीय तथा अमरीकी देशों को क्रमशः ७६·२ प्रतिशत तथा १७·८ प्रतिशत दिया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय अधिकोष के लिए एशियाई देशों की अपेक्षा यूरोपीय तथा अमरीकी देशों के आर्थिक विकास का अधिक महत्त्व है।

इस दृष्टि से अगर हमको ऋण के प्रभार से बचना है तो हमको वैयक्तिक पूँजी को निकालने के लिए मार्ग एवं साधनों का अवलम्बन करना होगा तथा भारत में ही जो लाखों करोड़ों रुपये का भूमिगत स्वर्ण है उसको निकाल कर अपने ही पैरों पर खड़ा होना चाहिए, तभी हम अपनी वास्तविक प्रगति कर सकते हैं क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय अधिकोष की नीति अभी तक पक्षपाती रही है और भविष्य के लिए हम उस पर अधिकाधिक निर्भर नहीं रह सकते।

प्रश्न

१. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-प्रणीधि कब तथा क्यों निर्माण किया गया ? उसका सदस्य होने से भारत को क्या लाभ हैं ?

२. अन्तर्राष्ट्रीय अधिकोष की ऋण-नीति का उल्लेख करते हुए बताइये कि क्या भारत उस पर ऋणों के लिए निर्भर रहे ?

३. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-प्रणीधि से विदेशी विनिमय में कौनसे लाभ हैं ? उसकी स्वर्ण-नीति के विषय मे आप क्या जानते हैं ?

४. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-प्रणीधि तथा अधिकोष की पूँजी, सदस्यता एवं कार्य-पद्धति का पूर्ण रूपेण विवेचन कीजिये ।

अध्याय १७

साम्राज्य डालर निधि

युद्ध-काल में एवं युद्धपूर्व-काल में स्टर्लिंग-क्षेत्र के देशों के विदेशी विनिमय के कोष बैंक ऑफ इङ्गलैण्ड में एकत्रित रहते थे तथा उन्हीं कोषों से अन्य देशों की मुद्रा का क्रय आवश्यकतानुसार किया जाता था। इसका प्रमुख कारण लन्दन का अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक विपणि में श्रेष्ठत्व रहा है जिससे इस पद्धति में कोई भी आपत्ति युद्ध-काल तक नहीं प्रतीत हुई क्योंकि स्टर्लिंग किसी भी विदेशी मुद्रा में परिवर्तित हो सकता था। युद्ध-काल में स्टर्लिंग की यह परिवर्तनशीलता जाती रही जिससे यह आवश्यक हो गया कि स्टर्लिंग-क्षेत्रों के विभिन्न देशों की विदेशी मुद्राओं को एक स्थान पर रखा जाय तथा उसका युद्ध के संचालन के लिए अच्छे से अच्छा उपयोग हो सके इसलिए विदेशी मुद्रा के उपयोग को भी नियन्त्रित किया जाय। इस हेतु स्टर्लिंग-क्षेत्र के सब देशों की जो विदेशी मुद्राएँ इङ्गलैण्ड में उस समय तक प्रत्येक देश के अधिकार में थी उनको एक जगह लाया गया तथा उनको बैंक ऑफ इङ्गलैण्ड एव ब्रिटिश कोष के अधिकार में रखा गया। इसी एकत्रित निधि का नाम साम्राज्य डालर निधि (Empire Dollar Pool) रखा गया। इस कोष में से सदस्य राष्ट्र स्टर्लिंग के बदले विदेशी मुद्रा खरीद सकते थे। इसको डालर निधि नाम देने का मुख्य एवं एकमेव कारण यही था कि डालर दुर्लभ मुद्रा हो गई थी क्योंकि डालर क्षेत्र से स्टर्लिंग क्षेत्र में आयात बहुत अधिक बढ़ गये थे और निर्यात कम होगये थे।

इसके अन्तर्गत प्रत्येक देश को कोई विशेष अभ्यंश न देते हुए उसकी अत्यधिक आवश्यक वस्तुओं के लिए ही विदेशी विनिमय दिया जाता था। इससे यह स्पष्ट है कि इस निधि का उपयोग अन्य देशों के हित की अपेक्षा इङ्गलैण्ड के हित के लिए होता था क्योंकि ऐसी आवश्यक वस्तुओं के लिए भी विदेशी विनिमय इस निधि में से तभी दिया जाता था, जब वे वस्तुएँ स्टर्लिंग-क्षेत्र में उपलब्ध न होती थीं। इस 'आवश्यकता' की परिभाषा भी निधि की कमी

एवं आधिक्य के अनुसार निश्चित की जाती थी। अर्थात् युद्ध-काल में युद्ध की आवश्यकताओं पर विशेष ध्यान दिया जाता था तथा इसका निर्णय करने का अधिकार सदस्य देश की सरकार द्वारा दिया जाता था।

भारत का डालर निधि में परिमाण : भारत ने जो डॉलर १९३९ से मार्च १९४६ तक प्राप्त किये उनके आँकड़े सरकार द्वारा प्रसिद्ध किये गये थे जो निम्न हैं :—

अमरीकन का डालर की प्राप्ति :	४०५ करोड़ रुपये	वास्तविक प्राप्ति
व्यय	– २४० ,, ,,	
अनुकूल शेष	१६५ ,, ,,	
अन्य दुर्लभ मुद्रा वाले देशों—कनाडा, स्वीडन, स्विटजरलैंड पोर्चुगाल—में व्यय	– ५१ ,, ,,	११४ करोड़ रुपये
१९४६-४७ में हमारा प्रतिकूल शेष :		
(अ) अमेरिका के साथ	१५ ,, ,,	
(ब) अन्य दुर्लभ मुद्रा वाले देशों के साथ	+ ७ ,, ,,	
कुल प्रतिकूल	२२ करोड़ रुपये	
अप्रेल से जून ४७ तक प्रतिकूल शेष	१५ ,, ,,	– ३७ करोड़ रुपये
	३७ ,, ,,	
		७७ करोड़ रुपये

१९४७ तक भारत इस निधि में से डॉलर का उपयोग कर सकता था किन्तु डॉलर की अधिकाधिक दुर्लभता के कारण यह प्रतिबन्ध लगाना ब्रिटेन को आवश्यक हो गया जिसके अनुसार भारत इस निधि में से प्रति वर्ष केवल एक निश्चित रकम के डॉलर ले सकता है जिससे अधिक आवश्यकता पड़ने पर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-प्रणीवि से डालर लिये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त भारत आयात-निर्यात की अनुकूलता से प्राप्त होने वाले डालरों का उपयोग करने के लिए स्वतन्त्र है।

भारत-ब्रिटेन आर्थिक समझौते के अनुसार एक साल बाद साम्राज्य डालर निधि खत्म हो जाना चाहिए था किन्तु भारत के विभाजन की वजह

से भारत को डालर की अधिकाधिक कमी महसूस होने लगी जिसकी वजह से भारत ने ब्रिटिश राष्ट्र संघ की सदस्यता स्वीकार की तथा आर्थिक क्षेत्र में ब्रिटेन का साथ दिया जिसकी वजह से राष्ट्र संघ की आर्थिक परिषद् के समझौते के अनुसार डालर क्षेत्र से हमको २५ प्रतिशत आयात में कमी करनी पड़ी तथा आगे के लिए भी अगर डालर की दुर्लभता रही तो कमी की सम्भावना ही रहेगी। लेकिन हमारे विचार से जब तक हमारे पौंड-पावने इंगलैंड के हाथ में हैं और उनका भुगतान पूर्ण नहीं हो जाता तब तक ही स्वतन्त्र भारत की नीति ब्रिटेन की नीति के साथ मिलती जुलती रहेगी। देखना है आगे क्या होता है। इस निधि में कुल १३५० मिलियन डालर सितम्बर १९४९ में थे जो अवमूल्यन के बाद डालर क्षेत्र में निर्यात बढ़ जाने से सितम्बर १९५० में २७५६ मिलियन डालर हो गये हैं। यह निधि अब स्टर्लिंग क्षेत्र डालर निधि (Sterling Area Dollar Pool) अथवा केन्द्रीय डालर निधि के नाम से प्रसिद्ध है। इसका अन्त अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-प्रणीवि के नियमों के अनुसार १९५२ में, अर्थात् प्रणीवि के कार्यारम्भ के ५ वर्ष बाद, हो जाना चाहिए जिससे बहुपाक्षिक विनिमय में किसी भी प्रकार की बाधा न रहे।

प्रश्न

१. साम्राज्य डालर निधि का क्यों एवं कब निर्माण हुआ? इसका अन्त क्यों नहीं किया जाता?

हिन्दी-अंग्रेजी प्रतिशब्दों की आवश्यक सूची

अग्र Forward
अग्र विनिमय Forward Exchange
अग्रिम Advance
अधमर्ण Debtor
अधिकोष Bank
अधिकोष-दर Bank Rate
अधिकोषण Banking
अनुकूल Favourable
अनुपात Proportion
अन्तर्राष्ट्रीय International
अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-प्रणीवि International Monetary Fund
अपमूल्यन Depreciation
अपरिवर्तनीय Inconvertible
अपहार Discount
अपूर्ण धातुमान Limping Standard
अप्रतिबन्धित Unrestricted
अप्रतिबन्धित (मुक्त) टंक Free Coinage
अप्रत्यक्ष Indirect
अप्रत्यक्ष विनिमय Indirect Exchange
अभ्यंश Quota
अरक्षित Fiduciary

अवमूल्यन Devaluation
अवैध Illegal
असीमित Unlimited
असीमित विधिग्राह्य Unlimited Legal Tender

आन्तरिक Internal, Intrinsic
आन्तरिक मूल्य Intrinsic Value
आयात Import
आयातकर्ता Importer
आर्थिक Financial
आलोचना Criticism
आवश्यकता Want

उच्चावचन Fluctuation
उत्क्रान्ति Evolution
उत्तमर्ण Creditor
उत्पाद-कर Excise Duty
उदवसन्यता, Elasticity
उपयुक्तता, उपयोगिता Utility

ऋण Debt

एक-धातुमान Mono-metallism
एकाधिकार Monopoly

औद्योगिक Industrial
औसत Average

कार्य Function
कीमत Price
केन्द्रीय Central
केन्द्रीय अधिकोष Central Bank
केन्द्रीय डॉलर निधि
Central Dollar Pool
कोष Treasury
कोष-विपत्र Treasury Bill
क्रयशक्ति Purchasing Power
क्रयशक्ति-समता
Purchasing Power Parity

खाद्यान्न-वितरण
Food Rationing

गति Velocity
गति-सामर्थ्य Mobility
ग्राह्य Acceptable
ग्राह्यता Acceptability
गौण मुद्रा Token Money

घटक Factor

चलन Currency
चल-लेखा Current Account
चलनाधिक्य Over-issue

टंक, टंकशाला, टकसाल Mint
टंक-समता Mint Par
टंकण Minting, Coinage
टंकण-शुल्क Brassage
टंकण-लाभ Seigniorage

तत्स्थान-दर Spot Rate
तत्स्थान-विनिमय
Spot Exchange

तार-प्रेषण-दर T. T. Rate

द्विधातुमान Bi-metallism
दुर्लभ मुद्रा Hard Currency

धातु-निधि Metallic Reserve
धातु-मुद्रा Metallic Money
धातु-मूल्य Intrinsic Value

निःशुल्क Gratuitous
निधि Reserve, Pool
नियम Law, Rule
नियमन Regulation
नियमन करना Regulate
निराक्राम्य-कर Custom Duty
निर्देशाङ्क Index Number
निर्यात Export

पक्ष में Favourable
पत्र Note
पत्र-मुद्रा Paper Money
पत्र-चलन-निधि Paper
Currency Reserve
पद्धति Method
परिकल्पना Speculation
परिकल्पित Speculative
परिभाषा Definition
परिमाण Quantity
परिवर्तनीय Convertible
परिषद Conference
परिषद-विपत्र Council Bills
पुनः संस्थापन Restoration
पुनर्निर्माण Reconstruction
पुनर्सङ्गठन Reorganisation

पूँजी Capital
पूर्ति Supply
पौंड-पावने Sterling Balances
प्रणीवि Fund
प्रतिकूल Unfavourable
प्रतिज्ञा-अर्थपत्र Promissory Note
प्रतिनिधिक Representative
प्रति-परिषद्-विपत्र Reverse Council Bills
प्रतिबन्धित Restricted
प्रतीक मुद्रा Token Money
प्रत्यक्ष Direct
प्रत्यक्ष विनिमय Direct Exchange
प्रधान मुद्रा, प्रमाणित मुद्रा Standard Money
प्रेषालय Post Office

बिक्री Sale
ब्याज Interest

भुगतान Payment
भृत्ति Wages

मजदूरी Wages
मन्दी Depression
मर्यादा Limit
माँग Demand
मात्रा Quantity
माध्यम Medium
मान Standard
मान्यता Acceptability
माप, मापक Measure
मितव्ययिता Economy
मिश्रित-धातुमान Symetallism
मुद्रा Money
मुद्राङ्क Stamp
मुद्राङ्क-कर Stamp Duty
मुद्रा-परिमाण सिद्धान्त Quantity Theory of Money
मुद्रा-विपणि Money Market
मुद्रा-संकोच Deflation
मुद्रा-स्फीति Inflation
मूल्य Value, Price
मूल्य-स्तर Price Level
मौद्रिक Monetary

राजस्व Finance
रौप्य Silver
रौप्यमान Silver Standard

लेखा Account
लोच Elasticity

वर्गीकरण Classification
वर्तन Commission
वस्तु-विनिमय Barter
विक्रय Sale
विकास Development
विधान Act
विधिग्राह्य Legal Tender
विधि-मूल्य Face Value
विनिमय Exchange
विनिमय-विपत्र Bill of Exchange
विनियोग Investment
विनियोग किया हुआ भाग Invested Portion

विनियोगकर्ता Investor
विपणि Market
विपक्ष में Unfavourable
व्यवहार Transaction

शुल्क Fee, Charge
शेष Balance
शोधन Payment

संक्रमण-काल Transition Period
समता Parity
समानान्तर Parallel
समानान्तर मान Parallel Standard
समायोजन Adjustment
समायोजित डॉलर Compensated Dollar
समाशोधन Clearing
समाशोधन-गृह Clearing House
सर्वग्राह्यता Acceptability
सांख्यिकी Statistics
साख Credit
साख-पत्र Credit Note
साम्राज्य डॉलर निधि Empire Dollar Pool
सारणी Table
सारणी-मान Tabular Standard
सिक्का Coin
सिद्धान्त Theory
सीमित Limited

सुज्ञेयता Cognisibility
सुरक्षा Security
सुवाह्यता Portability
सुविभाज्यता Divisibility
स्कन्ध Stock
स्कन्ध-विनिमय Stock Exchange
स्टर्लिंग-क्षेत्र Sterling Area
स्टर्लिंग-क्षेत्र डॉलर निधि Sterling Area Dollar Pool
स्तर Level
स्थायी (स्थिर) लेखा Fixed Account
स्थास्नुता Durability
स्थिरता, स्थैर्य Stability
स्वयंपूर्ण Automatic
स्वयंपूर्ण कार्यशीलता Automatic Working
स्वर्णमान Gold Standard
स्वर्ण-खण्ड-मान Gold Bullion Standard
स्वर्ण-चलन-मान Gold Currency Standard
स्वर्ण-विनिमय-मान Gold Exchange Standard
स्वर्णमान-निधि Gold Standard Reserve

हानिपूरक डॉलर Compensated Dollar
हानिपूर्ति Compensation